सांख्य-दर्शन

महर्षि-कपिल-मुनि-प्रणीत।

165

अच्युतानन्द स्वेदम्

जिसको

पण्डित चेतपाल शर्म्माने

अनुवाद किया।

और

पण्डित श्रीलक्ष्मणप्रसाद चिकित्सक और अनुवादकने

मुद्रित कराके प्रकाशित किया।

कलकत्ता

७५ नं० तुलापट्टी नारायण यन्त्र में

रामनारायण पालने छापा।

सन् १८९१ ई०

प्रथमवार १००० जिल्द मूल्य २) डाकव्यय ।)

ओ३म्

समर्पण ।

श्रीमन्महाराजाधिराज सर कर्नल प्रताप-सिंह के, सी, एस, आई, एडडीकेम्प टू हिज् रायल हाइनेस दी प्रिन्स आफ वेल्स समीपेषु—

राजन्! यह महर्षि कपिल-मुनिका सर्वस्व-धन साङ्ख्य-दर्शन भाषानुवाद करके श्रीमान् की सेवामें समर्पित करता हूं क्योंकि साम्प्रतिक नरेन्द्रोंमें श्रीमान्हीको वैदिकसिद्धान्तोंका रक्षक और पूर्वज ऋषियोंका गौरव बढ़ानेमें उत्साही पाता हूं। यद्यपि यह अनुवाद ऐसा नहीं हुआ जो आपके अर्पण करनेके योग्य हो परन्तु अपने जनकी वस्तु किसे प्रिय नहीं होती ?

भवतामखण्डकीर्त्याकांक्षी

क्षेत्रपाल शर्म्मा ।

प्रिण्टार—श्रीरामनारायण पाल
७५ नं० तुलापट्टी बड़ाबाजार कलकत्ता।
प्रकाशक—श्रीलक्ष्मणप्रसाद सुकुल वैद्य और चेतपाल शर्म्मा
१५ नं० हंसपोखरलैन् बड़ाबाजार कलकत्ता।

सूचना।

पाठकोंको ध्यान रहे कि इसके द्वितीयाध्यायमें ७६ और ८४ पृष्ठके बीचमें एक फार्मके केवल अङ्क गड़बड़ हो गये हैं सूत्र और अनुवादमें कुछ विभेद नहीं पड़ा अतएव पृष्ठ त्रुटिके १ से लेकर ८ तकके अङ्कों पर संदेह न करें।

उपोद्घात।

प्रिय पाठकवृन्द ! इससे अधिक मेरेलिये हर्षका समयकौन आवेगा कि आज चिरनिद्रित भारतवासियोंको उठकर संभलते देखता हूं और उन्हें उन रत्नोंकी खोजमें मग्नपाता हूं जो कि उनके पूर्वजोंने अपनी सन्तानके लिये अनेक कष्टोंसे सञ्चित किये थे परन्तु यदि वह रत्न पत्थरके होते तो मैं समझता हूं कि पहले तो अर्थ-लुब्धकोंके सन्मुख उनका बचनाही कठिन था और यदि दैवात् बचभी रहते तो वह आपसमें फूट और वैरका भूल हो बैठते किन्तु मेरा तात्पर्य्य यहां उन रत्नोंसे हैं जिन्हें वर्तमानमें शास्त्रोंके नामसे पुकारा जाता है और जिनके विचारसे ऋषियोंकी बहुदर्शिताका पूरा परिचय मिलसकता है।

जबमें वर्तमान की आभ्यन्तरिक दशा पर ध्यान देता हूं तो शोककी घटाएं चित्त-चन्द्रको आच्छादित करलेती हैं कि जिस भारतवर्षमें किसी समय ऐसे ऐसे दर्शन शास्त्रोंके बनानेवाले थे उसमें आज दिन इनके पढ़ने और समझनेवालोंका अभावसाहो रहा है। नहीं तो हमारे यहांके दर्शन शास्त्रोंकी इतनी अवनति क्यों हो जाती? यद्यपि इन दर्शनों पर बहुतेरे टीका टिप्पणी भी हैं परन्तु वह भी संस्कृतमें होनेके कारण सर्व-साधारणकी समझमें नहीं आसकते और संस्कृतमें भी कितने ही दर्शनों पर तो ऐसी व्याख्या हैं जिन्हें व्याख्याताओंने मतवादके कारण ऋषियोंके सिद्धान्तसे प्रतिकूल लिखमारा है जिसके उदाहरणमें इसी 'सांख्यदर्शन' को समझिये कि जिसे नास्तिकोंका दर्शन प्रसिद्ध करके पठन-पाठनही बन्दकर रखा है तब कहिये कि जिस देशवासियोंकी यह दशा है उसके वासी यदि दूसरे देशकी शिक्षाओंका गौरव करें तो क्या आश्चर्य्य?। यह वही

दर्शन है जिसके सहारेसे आज दिन अंगरेजोंने फिलासिफीके बीसों ग्रन्थ बनाडाले और अब तक बनाते चले जाते हैं; यह वही दर्शन है कि जिसमें सब शास्त्रोंके मुख्य प्रतिपाद्य मुक्तिका विषय पूर्णतया निरूपण किया गया है। यह वही दर्श है जिस के एकबार अच्छीतरह विचारलेनेसे संसारके सब पदार्थ हस्ता-मलककी भांति निर्भ्रम प्रतीत होने लगते हैं। बस इसी प्रकारके गौरवों पर ध्यान देकर मेरे एक मित्रने महर्षि-कपिल-मुनि-प्रणीत इस सांख्यदर्शनका भाषानुबाद करनेके लिये मुझे प्रेरणा की; यद्यपि मैं अपने को इस कार्य्यके योग्य नहीं समझता था कि जिन सांसारिक और पारमार्थिक तत्वोंको महर्षि-कपिलने इसके एक एक सूत्रमें गूंथ दिया है उसेमें भाषामें व्यक्त करके सर्व साधारणके सन्मुख निवेदन कर सकूं परन्तु तोभी उनकी आज्ञा पालन तथा "अकरणात् करणं श्रेयः" (न करनेसे करना अच्छा है) इस किम्वदन्ती को मूलमें रखकर मैं इसके भाषा-नुबाद करनेमें प्रवृत्त होता हूं। निज पाण्डित्य-प्रदर्शन किम्वा और किसी प्रकारके दुराशयको मूलमें रखकर यह अनुबाद नहीं किया गया अतएव भारतवर्षीय समस्त विद्वानोंसे प्रार्थना है कि यदि उन्हें इस अनुबादमें किसी प्रकारकी त्रुटि प्रतीत होवे तो उसे वह कृपापूर्वक संशोधन करलें अथवा मुझे सूचित करें तो मैं उसे आगामीबार मुद्रित होते समय सुधार दूंगा क्योंकि मुझे किसी प्रकारका हठ, वा पक्षपात इस अपने लेख पर नहीं है और न मैं यह समझता हूं कि जो मैंने लिखा है वही ठीक है क्योंकि भ्रम होना मनुष्यकी बुद्धिका सहज धर्म है। अलमति पल्लवितेन भुक्तु॥

भवदीय

चेत्रपाल शर्म्मा।

सांख्यदर्शन-भाषानुवाद।

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥ १ ॥

कोई अथशब्दसे अनन्तरका अर्थ करते हैं कि अथशब्द ऐसे ही स्थानपर कहा जाता है जहां पहिले किसी कार्य्यको करके दूसरे कार्य्यका आरम्भ किया जाता है तो उस पक्षमें अथशब्दके अनन्तर अर्थसे यह अभिप्राय जानना चाहिये कि कपिलजीने पहिले जो कुछ शास्त्रमें कहेंगे उसे मनमें विचार लिया उसके उपरान्त अन्य मनुष्योंको उपदेश करते हैं। परन्तु हमारी सम्मति से अथशब्दका "अब" यह अर्थ करना चाहिये। अध्यात्मिक* आधिभौतिक, आधिदैविक, इन तीन प्रकारके दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति अर्थात् फिर कभी उत्पन्न न होना इसीको अत्यन्त पुरुषार्थ (मोक्ष) कहते हैं क्योंकि धर्म्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारोंमेंसे मोक्षही सर्वोत्तम पुरुषार्थ है इसी लिये आचार्य्यने पुरुषार्थके साथ अत्यन्त शब्दका उच्चारण किया है अब यहां पर सन्देह होता कि उक्त तीन प्रकारके दुःखोंकी

---

* अध्यात्मिक दुःख उसे कहते हैं जो शरीर वा मनको होता है जैसे वातपित्त कफादिकी न्यूनता, अधिकता, होना। मनका दुःख शोक आदि उत्पन्न होना, आधिभौतिक दुःख जो पशु वा हृक्षादिसे मिलता है जैसे अनेक पशुओंका मरजाना वा पशुके द्वारा शरीरमें चोट लगना इसी प्रकार वृक्ष आदिके गिरनेसे दुःख

निवृत्ति अति सहज है जैसे शरीरके दुःखकी निवृत्ति औषध खानेसे होजाती है, और मानसिक दुःखकी निवृत्ति अभिलषित वस्तुके मिल जानेसे होजाती है, इसी प्रकार आधि-भौतिक दुःखोंकी निवृत्तिभी नीतिशास्त्रके उपदेशोंसे होजाती है और आधिदैविक क्लेश मणि वा महौषधोंसे नष्टहोही जाते हैं, इनकी निवृत्तिको अत्यन्त पुरुषार्थ नहीं कह सकते इसका उत्तर यह है कि तत्वज्ञान केवल एक जन्महीमें प्राप्त नहीं होता किन्तु ज्ञानका संस्कार जब एक पुरुषको अनेक जन्मोंसे चला आता है तब शास्त्रमें प्रवृत्ति होकर तत्वज्ञान प्राप्त होता है तो ऐसे जन्मान्तर साध्य ज्ञानको कैसे सहज कह सकते हैं इसके अतिरिक्त जो पूर्वोक्त ; दुःखोंकी निवृत्तिके साधन कहे वह साधनभी ठीक नहीं हैं क्योंकि ॥ १ ॥

न दृष्टात् तत्सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्तिदर्शनात् ॥ २ ॥

औषधादि पदार्थोंसे दुःखकी निवृत्तिही होती है किन्तु अत्यन्त निवृत्ति अर्थात् थोड़ेही समयमें उत्पत्ति न हो ऐसा नहीं होता तथा एक दुःखकी निवृत्ति होजाने पर दूसरे दुःख की उत्पत्ति लोकमें देखी जाती है और सूत्रकारका अभिप्राय यह है कि किसी प्रकारका दुःख उत्पन्न न हो इसीका नाम

होना यह सब आधिभौतिक दुःख कहाते हैं। इसी भांति आधि-दैविक दुःख जो अकस्मात् आजाय जैसे अधिक वृष्टिसे हानि होना सूर्यकी अधिक उष्णता होनेके कारण ग्रीष्मकी उष्णवायु (लू)-का लगजाना वा बिजलीका पड़ना इसी प्रकारके दुःख आधिदैविक कहाते हैं।

मोक्ष है, इस लिये पूर्वोक्त तीनप्रकारके दुःखोंकी निवृत्ति बिना तत्त्वज्ञानके कदापि नहीं हो सकती अतएव उसकी प्राप्तिका उपाय अवश्य करना चाहिये। अब यहां पर यह शङ्का होती है कि जिस प्रकार वर्त्तमानके दुःखोंकी निवृत्ति औषधादि खानेसे होजाती है इसी प्रकार होनेवाले दुःखोंकी निवृत्तिभी पहिलेहीसे औषध खानेसे हो सकती है जैसे ॥ २ ॥

प्रात्यहिकक्षुत्प्रतीकारवत् तत्प्रतीकारचेष्टनात् पुरुषार्थत्वम् ॥ ३ ॥

*नित्य प्रति क्षुधा उत्पन्न होती है उसको भोजनादिसे दूर कर देते हैं ऐसेही अन्य दुःखोंके दूर करनेकी चेष्टा करनाही पुरुषार्थ है इस सूत्रका भावार्थ यह है जब दुःख निवृत्तिको पुरुषार्थ कहा है तो जिस प्रकार क्षुधा उत्पन्न होती है और भोजन करनेसे दूर हो जाती है इसी प्रकार अन्य दुःखभी अन्यान्य उपायोंसे नष्ट हो सकते हैं तो वही पुरुषार्थ क्यों न माना जाय? तत्त्वज्ञानके प्राप्त करने वा खोजनेकी क्या आवश्यकता है? इसके उत्तरमें यह सूत्र है कि ॥ ३ ॥

सर्वासम्भवात् सम्भवेऽपि सत्त्वासम्भवाद्धेयः प्रमाण-कुशलैः ॥ ४ ॥

प्रथम तो सब देशमें वा प्रत्येक समयमें वैद्य वा औषध तयारही नहीं रहते और यदि मानभी लिया जाय कि वैद्यादि

---

* यह सूत्र उपरोक्त शङ्काकी पुष्टिके लिये पूर्वपक्ष करनेका है इसका उत्तर अगले सूत्रमें है।

दुःख दूर करनेवाले पदार्थ रहते हैं तो भी इन उपायोंसे दुःख की सत्ता कदापि नष्ट नहीं हो सकती जब सत्ताही बनी रही तो दुःखसे छूटनाही क्या हुआ? अतएव प्रमाण कुशल बुद्धिमानोंको ऐसा पुरुषार्थ कदापि ग्रहण करने योग्य नहीं है किन्तु सर्वथा त्यागने योग्य है ॥ ४ ॥

उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः ॥ ५ ॥

पूर्वोक्त उपायोंसे सुखकी प्राप्तिके लिये यत्न करना व्यर्थ है क्योंकि अन्य सुख क्षणस्थायी हैं और मोक्ष सुखको सब उत्कर्ष (ऊंचे) सुखोंसेभी अधिक उत्कर्ष श्रुतियोंनेभी माना है जैसे "आत्मलाभान्न परं लाभं विद्यते" आत्मलाभकी बराबर दूसरा कोईभी लाभ नहीं है। अब यहां पर यह शङ्का होती है कि मोक्षसुखही सबसे उत्तम है इसमें क्या प्रमाण है ॥ ५ ॥

अविशेषश्चोभयोः ॥ ६ ॥

यदि मोक्षको सबसे उत्तम न कहा जाय तो अन्य सुख और मोक्ष सुख दोनोंमें अविशेषता अर्थात् समानताही रही अब रहा यह सन्देह कि मोक्ष (छूटना) कहनेसे यह प्रतीत होता है कि पहिले बद्धथा तो वह बन्धन स्वभावसे है वा किसी निमित्तसे? यदि स्वभावसे है तो बन्धन कदापि नष्ट नहीं होगा, और जो किसी निमित्तसे है तो उस निमित्तके नाश होजाने पर बन्धन भी अवश्य छूट जावेगा, फिर मोक्षके लिये यत्न करना व्यर्थ होगा अतएव इस शङ्कामें पहिले स्वभावसे बन्धन माननेमें दोष कहते हैं ॥ ६ ॥

न स्वभावतो बद्धस्य मोक्ष-साधनोपदेशविधिः ॥ ७ ॥

दुःख योग स्वभावसे कदापि नहीं हो सकता क्योंकि यदि स्वभावसे बन्ध होता तो मोक्षसाधनका श्रौतस्मार्त्त कर्मों द्वारा करना निष्फल होगा इसकी एक युक्ति यहभी है कि जैसे अग्नि स्वभावसे उष्ण है उसकी उष्णता जबतक अग्नि रहेगी कदापि नष्ट न होगी इसी प्रकार जिस द्रव्यका जो स्वभाव है वह उस द्रव्यके रहने तक नष्ट नहीं हो सकता, यदि बन्धन स्वाभाविक ही माना जाय तब मोक्षका नामभी नहीं आसकता यही बात इस वक्ष्यमाण सूत्रसे स्पष्ट करते हैं ॥ ७ ॥

स्वभावस्यानपायित्वादननुष्ठानलक्षणमप्रामाण्यम् ॥८

अर्थात् स्वभाव किसीका नष्ट नहीं होता अतएव बन्धको स्वाभाविक कहनेसे न केवल श्रुति स्मृति विहित कर्मोंहीका अननुष्ठान (न करना) ही होगा किन्तु वेदादि शास्त्रोंका भी अप्रमाण होगा, क्योंकि वेदादि शास्त्रोंमें मोक्षका अनुष्ठान लिखा है और इस पक्षसे वास्तवमें मोक्ष कोईभी पदार्थ न रहा इससे स्वाभाविक बन्ध मानना ठीक नहीं है। अब यहां यह शङ्का हुई कि वेदकी आज्ञाको मान कर वेदोक्त कर्मोंका अनुष्ठान होता रहैगा किन्तु बन्ध स्वाभाविक मानो ऐसा करनेमें यह दोष है कि ॥ ८ ॥

अशक्यस्य उपदेशविधि न

नाशक्योपदेशविधिरुपदिष्टेऽप्यनुपदेशः ॥ ९ ॥

निष्फल कर्मके लिये ऋषि लोग कदापि उपदेश नहीं करते क्योंकि वह उपदेश कियाभी न कियेकी बराबर है कारण

यह कि स्वभाव बद्धको मोक्षसाधनोपदेश करने और न करनेमें कुछभी फल नहीं है और वेदभी निष्फल बातका साधन नहीं करता अतएव वह पक्ष युक्त नहीं॥ अब जो स्वभावको नित्य नहीं मानते हैं उनके सिद्धान्तमें दूषण देते हैं कि॥ ९॥

शुक्लपटवद्बीजवच्चेत्॥ १०॥

लोकमें स्वाभाविक कार्य्यकाभी नाश देखनेमें आता है स्वभावसे श्वेतवस्त्रको लालरंगमें रंगनेसे उसका श्वेतत्व नष्ट होजाता है और रक्तत्व आजाता है इसी प्रकार बीजसे अङ्कुर उत्पन्न होना यह उसकी स्वाभाविक शक्ति अग्निमें भूंजनेसे जाती रहती है यदि ऐसा हो तो इसका समाधान इस अगले सूत्रसे किया जाता है॥ १०॥

शक्त्युद्भवानुद्भवाभ्यां नाशक्योपदेशः॥ ११॥

पूर्वोक्त दृष्टान्त स्वभाव के विनाशी होनेमें ठीक नहीं कहा जासकता कारण यह कि शुक्लपटका रक्त होजाना केवल उसकी श्वेतत्वशक्तिका तिरोभाव (छिपना) होना मात्र है वास्तवमें उसका श्वेतत्व नष्ट नहीं कहा जासकता क्योंकि रक्तवर्णविशिष्ट पटको यदि रजकके व्यापरसे (धोनेसे) भी श्वेतता प्राप्त न होती तो अवश्य स्वभाव नश्वर माना जाता, परन्तु ऐसा लोकमें नहीं दीखता इससे श्वेतपटके रक्त होजानेके समय केवल श्वेतत्वशक्तिका तिरोभाव मात्रही कहा जासकता है इसी प्रकार भुने हुए बीजकी भी अङ्कुरोत्पादिका शक्ति जब अनेक औषधोंके योगसे फिर आजाती है तब उस बीजमें भी अङ्कुरोत्पादिका स्वाभाविका शक्तिका तिरोभाव ही ठीक कहा

जायगा एवं पूर्वोक्त दृष्टान्तोंकी भांति जीवमें भी दुःखशक्तिका तिरोभाव होजाना ही मोक्ष है क्योंकि यदि ऐसे माना जाय तो जिस दुःख शक्तिका तिरोभाव होगयाथा उसका फिर कभी आविर्भाव न हो कर शनैः शनैः सब जीव मुक्त होते चले जावें और नवीन जीव बननेसे रहे एवं जो मुक्त हुए वह आनेसे रहे तब संसारकी व्यवस्था बिगड़ जाय, अतएव बन्ध स्वाभाविक नहीं माना जाता और मोक्ष भी स्वाभाविक नहीं है इस प्रकार स्वाभाविक बन्धका खण्डन करके अब नैमित्तिक बन्धका भी खण्डन करते हैं ॥ ११ ॥

न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात् ॥१२

बन्धनरूपी दुःख कालनिमित्तसे भी नहीं हो सकता क्योंकि काल नित्य और सर्वव्यापी है, अतएव उसका सबके साथ समान सम्बन्ध होनेसे मुक्त और अमुक्तकी कुछ भी व्यवस्था नहीं हो सकती और जब कालही बन्धका हेतु माना जावे तो सबही पुरुष बद्ध समझे जावेंगे यहां इन सब पर सामान्यसे इस हेतु विचार किया गया कि कोईभी मत कालादिकृत मुक्तिका पक्षपाती नहीं है ॥ १२ ॥

न देशयोगतोऽप्यस्मात् ॥ १३ ॥

देश (दिशा) के निमित्तसे भी बन्धन नहीं हो सकता क्योंकि दिशा भी सर्वत्र व्यापिका है इस लिये उसका सबके साथ सम्बन्ध रहेगा और इसके अतिरिक्त एक दोष और भी काल वा दिशा निमित्तक बन्धन माननेमें रहेगा कि सब शास्त्रोंकारोंके सिद्धान्तानुसार काल और दिशा सबके साधारण कारण हैं और

असाधारण कारण किसीका निमित्त कारण नहीं हो सकता अतएव काल दिशाकृत बन्धन करना ठीक नहीं है ॥ १३ ॥

नावस्थातो देहधर्मत्वात् तस्याः ॥ १४ ॥

जरा यौवनादि अवस्थाओंसे भी जीवका बन्धन नहीं है क्योंकि यह अवस्था शरीरका धर्म है यदि औरके धर्मसे औरका बन्धन माना जाय तो किसी अमुक्तजीवके धर्मसे मुक्तजीवका बन्धन हो जाना सम्भव है। यहां पर यह शङ्का होती है कि जरादि अवस्था जीवकी ही क्यों न मानी जांय ॥ १४ ॥

असङ्गोऽयं पुरुष इति ॥ १५ ॥

यह जीव असंयोगी है अर्थात् इसका जरादि अवस्थाओंके साथ मेल नहीं है ॥ १५ ॥

न कर्मणान्यधर्मत्वादतिप्रसक्तेश्च ॥ १६ ॥

श्रुति स्मृति द्वारा विहित और निषिद्ध कर्मोंसे भी जीवका बन्धन नहीं हो सकता क्योंकि कर्म करना भी शरीर वा चित्तका धर्म है यदि अन्यका कर्म अन्यके बन्धनका हेतु हो तो अमुक्तके कर्मसे मुक्तका बन्धन हो कर अतिप्रसक्ति दोष होगा। अब यह शङ्का हो सकती है कि जब दुःखका योग चित्तको होता है तो चित्तहीका बन्धन क्यों न माना जाय जीवको बन्धन क्यों है ? तो इसमें यह दोष होगा कि ॥ १६ ॥

विचित्रभोगानुपपत्तिरन्यधर्मत्वे ॥ १७ ॥

यदि दुःखरूप बन्धन जीवको न माना जाय तो चित्तके अनित्य होनेसे तत्कृत कर्मभी अनित्य होंगे अर्थात् जैसे चित्त

की वृत्ति प्रतिक्षण बदलती रहती है इसी प्रकार सुख दुःखका भी परिवर्त्तन चित्तवृत्तिके साथही होता रहैगा इस लिये जिस क्षणमें चित्त सुखी होगा उस क्षणमें मोक्ष और जब चित्त दुखी हुआ तो बन्ध कहना पड़ेगा, तब बन्ध मोक्ष दोनोंही क्षणिक होंगे, यद्यपि चित्तपर भी दुःखका प्रतिविम्ब (छाया) पड़ता है परन्तु वह प्रतिविम्ब जीवके कारण है क्योंकि चित्तभी जीवका आदर्श मात्र है। अब इस वक्ष्यमाण सूत्रसे प्रकृतिकृत बन्धनका भी खण्डन करते हैं ॥ १७ ॥

प्रकृतिनिबन्धनाच्चेन्न तस्या अपि पारतन्त्र्यम् ॥ १८ ॥

प्रकृतिसे बन्ध इस कारण नहीं होसकता कि प्रकृतिको परतन्त्र माना है क्योंकि गुणोंके संयोगको प्रकृति माना है वह संयोग अवश्य किसीने किया होगा तो संयोगके नाश होते ही बन्धका भी नाश हो जावेगा और यदि प्रकृतिके संयोग कर्त्ताके विना भी प्रकृतिको बन्धका कारण कहैं तो प्रकृतिका नाश प्रलयपर्य्यन्त नहीं होता अतएव बन्धन भी नित्य होगा ॥ अब ब्रह्महीको जीवरूप मान कर जो उपाधिकृत बन्धन मानते हैं उनका सिद्धान्त इस वक्ष्यमाण सूत्रसे अयुक्त सिद्ध करते हैं ॥१८॥

न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते ॥१९॥

जो ईश्वर नित्यशुद्ध बुद्ध और मुक्त स्वभाव है उसको कदापि बन्धयोग नहीं हो सकता क्योंकि उसके पूर्वोक्त गुण प्रकृति सम्बन्ध होने न होने परभी समान ही रहते हैं और जो ब्रह्म-हीको जीव माननेवाले प्रकृति और पुरुषके संयोगको बन्धन मान कर उस संयोगके नाश करदेनेको ही मोक्ष कहते हैं

उनके सिद्धान्तमें एक दोष यह भी होगा कि पुरुष परिणामी और सङ्गी हो जायगा और "असंयोगोऽयं पुरुषः" (यह पुरुष संगरहित है) इस सिद्धान्तमें दूषण होगा तथा प्रकृति और पुरुष प्रलयपर्य्यन्त रहते हैं इससे प्रलयपर्य्यन्त संयोग रहनेके कारण मोक्षका होना सर्वथा असम्भव होगा ॥ जिनका यह सिद्धान्त है कि माया वा अविद्याने जीवरूप ब्रह्मका बन्धन कर रखा है वह भी इस कारण ठीक नहीं हो सकता कि ॥ १९ ॥

नाविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धायोगात् ॥ २० ॥

जब वह लोग अविद्याको अवस्तु (नाचीज) मानते हैं तो अविद्या-रूपी अवस्तुसे पुरुषका बन्धन कदापि नहीं हो सकता क्योंकि जो स्वयं ही कुछ वस्तु नहीं है वह दूसरेका बन्धन क्या कर सकती है ? और जो अविद्याको कोई वस्तु माना जाय तो ॥ २० ॥

वस्तुत्वे सिद्धान्त-हानिः ॥२१॥

अविद्याके वस्तु होनेसे उनके "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" (ब्रह्म एकही है दूसरा कुछ नहीं) इस सिद्धान्तकी हानि होती है क्योंकि ब्रह्म एक वस्तु रहा और अविद्या एक वस्तु रही तब दो होनेसे अद्वैत न रहा किन्तु द्वैत होगया ॥ २१ ॥

विजातीय-द्वैतापत्तिश्च ॥२२॥

अद्वैतवादी ब्रह्मको सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद शून्य मानते हैं परन्तु अविद्याको वस्तु माननेसे ब्रह्ममें विजातीय द्वैतापत्ति हो गई ॥ २२ ॥

विरुद्धोभयरूपा चेत् ॥ २३ ॥

और जो वस्तु तथा अवस्तु दोनोंसे ही पृथक् अविद्या कोई तीसरा पदार्थ माना जाय सो भी नहीं हो सकता क्योंकि ॥ २३ ॥

न तादृक् पदार्थाप्रतीतेः ॥ २४ ॥

पूर्वोक्त रीतिसे अविद्या वस्तु अवस्तुसे भिन्न तीसरा पदार्थ नहीं हो सकती क्योंकि ऐसा कोईभी पदार्थ देखनेमें नहीं आता जो वस्तु अवस्तुसे पृथक् हो, और जो अद्वैतवादी अपने छः पदार्थोंको नित्य मान कर अपने सिद्धान्तको पुष्ट करते हैं उसमें भी आचार्य्य अनिच्छा प्रकाश करते हैं ॥ २४ ॥

न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत् ॥ २५ ॥

जिस प्रकार वैशेषिकादि शास्त्रोंमें द्रव्य, गुण, कर्म्म, सामान्य, विशेष, समवाय, यह छः वा अन्यान्य शास्त्रोंमें इनसे न्यूनाधिक पदार्थोंको अनादि मान कर अपना सिद्धान्त साधन किया है उस प्रकार हम (महर्षि कपिल) नहीं मानते किन्तु असंख्य पदार्थोंको मानते हैं। अब इसमें यह सन्देह होता है कि यदि असंख्य पदार्थ हैं तो अविद्या वा अन्य जैसा समझमें आवे उसे भी एक पदार्थ क्यों न माना जाय इस सन्देह पर विशेष सम्मति यह है कि ॥ २५ ॥

अनियतत्वेऽपि नायौक्तिकस्य संग्रहोऽन्यथा बालोन्मत्तादिसमत्वम् ॥ २६ ॥

यद्यपि हम असंख्य पदार्थ मानते हैं परन्तु उन असंख्य

पदार्थोंमें जो पदार्थ युक्तिसे सिद्ध नहीं होता (जैसे कि सद् असद् दोनोंसे रहित अविद्या है यह बात युक्तिसंगत नहीं अतएव) उसे (अविद्याको) पदार्थ नहीं मानते यदि अयौक्तिकको भी पदार्थ मानें तो वह मानना बालक और उन्मत्तके माननेके समान हो जाय और जो कोई२ नास्तिक बाह्य विषयोंको क्षणिक मान कर उन विषयोंकी वासनाहीसे जीवका बन्धन मानते हैं उन नास्तिकोंका बन्ध-कारणिक, सिद्धान्त ठीक नहीं हो सकता ॥ २६ ॥

नानादिविषयोपरागनिमित्तकोऽप्यस्य ॥ २७ ॥

क्योंकि इस जीवको प्रवाहरूपसे अनादि वासनाकृत बन्धन कहना इस वक्ष्यमाण दोषसे अयुक्त होगा ॥ २७ ॥

न बाह्याभ्यन्तरयोरुपरञ्ज्योपरञ्जकभावोऽपि देशव्यवधानात् स्रुघ्नस्थपाटलिपुत्रस्थयोरिव ॥२८॥

कि नास्तिक लोग आत्मा (जीव) को देहमें परिच्छन्न मानते हैं अतएव उनके सिद्धान्तानुसार बाह्यविषयोंसे आभ्यन्तर आत्माका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह सकता, इसका कारण यह है कि बीचका व्यवधान हो जाना उस कार्य्यमें बाधा डाल देता है इसका दृष्टान्त यह है कि जैसे स्रुघ्न (आगरे) के रहनेवालेका पाटलिपुत्र (पटने) के रहनेवालेके कर्म्मसे बन्धनादि नहीं हो सकता क्योंकि बीचमें अनेक देशोंका व्यवधान है इसी प्रकार वाह्य इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुई वासना आभ्यन्तरस्थ आत्माके बन्धनका हेतु नहीं हो सकती और लोकमें भी ऐसाही व्यवहार देखनेमें आता है कि जब रंग और वस्त्र दोनोंको अव्यवधान (जिसके बीचमें कुछ

न हो करके मिलाया जाय तबही वस्त्रपर रंग चढ़ सकता है एवं स्फटिकके समीप अव्यवधानसे जिस वर्णका पुष्प वा अन्य पदार्थ रखा जाय तबही उस स्फटिकमें पुष्पका वर्ण प्रतीत होने लगता है परन्तु जब नास्तिक लोग वाह्य इन्द्रिय और आत्माका व्यवधान मानते हैं तो इन्द्रियकृत बासनासे आत्माका बन्धन माननेमें दूषण होगा, यदि यह कहा जाय कि वाह्य इन्द्रियोंका आभ्यन्तर इन्द्रिय (बुद्ध्यादि) से सम्बन्ध है और आभ्यन्तर इन्द्रियोंका आत्माके साथ सम्बन्ध है इस परम्परा सम्बन्धसे आत्मा भी विषय वासनासे बद्ध हो सकता है सो भी अयुक्त है क्योंकि ॥ २८ ॥

द्वयोरेकदेशलब्धोपरागान्न व्यवस्था ॥ २९ ॥

जब आत्मा और बाह्य इन्द्रिय दोनोंही विषय बासना युक्त हैं तो बद्ध और मुक्तकी व्यवस्थाही न होसकेगी इसका आशय यह है कि यदि आत्मा और बाह्येन्द्रिय दोनोंही विषय बासनासे समान सम्बन्ध रखते हैं तो इन्द्रियोंका बन्धन न कहकर केवल आत्माहीके बन्धनकी व्यवस्था करना अयुक्त होगा ॥ २९ ॥

अदृष्टवशाच्चेत् ॥ ३० ॥

यदि अदृष्ट अर्थात् जन्मान्तरकृत कर्मसे बन्धन माना जाय तो ॥ ३० ॥

न द्वयोरेककालायोगादुपकार्य्योपकारकभावः ॥३१॥

जब नास्तिक लोग क्षणिक*वादके कारण कर्त्ता और

---

* क्षणिकबादी नास्तिकोंका यह सिद्धान्त है कि सब पदार्थ प्रतिक्षण बदलते रहते हैं इसी भांति आत्माभी वदलता रहता है

भोक्ताको एकही नहीं मानते तब एक आत्माके पूर्वकालमें किये हुए कर्म क्यों बन्धनका हेतु होसकते हैं. अतएव अन्य कर्त्ताका अन्य भोक्ताके साथ उपकार्य (जिसका उपकार किया जाय) उपकारकभाव सम्बन्ध नहीं होसकता ॥ और यदि यह कहा जाय कि पुत्र कर्मकी भांति पिताका किया हुआ गर्भाधानादि संस्कार पुत्रके लिये उपकारी होता है इसी प्रकार अन्यका किया कर्म अन्यभी भोग सकता है इस शङ्काका पूर्वपक्ष करते हैं कि ॥ ३१ ॥

पुत्रकर्मवदिति चेत् ॥ ३२ ॥

यदि पुत्र कर्मका दृष्टान्त दिया जाय तो भी अयुक्त है क्योंकि ॥ ३२ ॥

नास्ति हि तत्र स्थिर एकात्मा यो गर्भाधानादिना संस्क्रियते ॥ ३३ ॥

जब क्षणिकवादियोंके मतमें एक आत्मा स्थिरही नहीं तो गर्भाधानादि संस्कारके समयभी एक आत्मा नहीं रहता जिससे पुत्रका उपकार कहा जाय और आस्तिकोंके मतमें तो आत्मा को स्थिर कहा है अतएव उपरोक्त दृष्टान्त आस्तिकोंके मतमें

अतएव पूर्वक्षणमें किये हुए आत्माके कर्मको परक्षणमें आत्मा नहीं भोगता इसी सिद्धान्तानुसार नास्तिक लोग कर्त्ता भोक्ताको भिन्न २ मानते हैं. तब जन्मान्तरके आत्मकृत कर्म दूसरे आत्माका बन्धन नहीं कर सकते ।

तो ठीकभी होसकता है ॥ अब रहा यह कि यदि क्षणिक बन्ध को अनियतकारणवाला वा अभावकारणवाला यद्वा अकारणवालाही माना जाय तब क्या दोष होगा तो इसका उत्तर यह है ॥ ३३ ॥

स्थिरकार्य्यासिद्धेः क्षणिकत्वम् ॥ ३४ ॥

कि यदि बन्धको क्षणिक मानो तो स्थिर कार्य्यकी सिद्धि कदापि न होसकेगी इस सूत्रका विशेषभाव यह है कि क्षणिक बन्धन कार्य्यकी असिद्धि का हेतु होगा क्योंकि यदि अकारणिक क्षणिक बन्ध स्वीकार करके "बन्धादिकं क्षणिकं सत्वाद् दीपशिखादिवत्" (बन्धादिक क्षणिक हैं क्योंकि होनेसे, दीपज्योति के समान) ऐसा लक्षण करें तो घटादिमें अतिव्याप्ति होजायगी अर्थात् जैसे दीपशिखामें कोई विशेष कारण नहीं है किन्तु वह अग्निका एक रूपान्तरही है और वह सदैव एकभावसे न रहनेके कारण क्षणिकभी है तथा दीपशिखा है इस व्यवहारसे उसकी सत्ताभी कही जाती है इसी प्रकार आत्माकाभी बन्ध किसी कारण विशेषसे नहीं है किन्तु वह उसका एक रूपान्तर है तथा वह रूपान्तर क्षणिक है परन्तु इस लक्षणसे घटादि पदार्थोंको भी कारण रहित नहीं कह सकते क्योंकि जैसे बन्ध वैसे घटादि दोनोंहीमें समान प्रमाण है ॥ अतएव यह लक्षण दूषित रहा और स्थिर कार्य्यकी क्या असिद्ध होगी वह इस अगले सूत्रसे स्पष्ट करते हैं* ॥ ३४ ॥

---

* इस सूत्रके आशयका विशेष निर्णय २७ वें सूत्रके भाष्यमें होगा।

न प्रत्यभिज्ञाबाधात् * ॥३५॥

लोकमें कोईभी पदार्थ क्षणिक नहीं है क्योंकि लौकिक पदार्थोंको क्षणिक माननेसे प्रत्यभिज्ञाज्ञानका बाध होगा जैसे "जो मैंने पूर्वकालमें पदार्थ देखा था उसीका इस समय स्पर्श करता हूं" इस लोकके व्यवहारसे जाना जाता है कि कोईभी पदार्थ क्षणिक नहीं है किन्तु सब पदार्थ स्थिर हैं क्योंकि यदि क्षणिक मानें तो "जो पहिले देखा था उसीको स्पर्श करता हूं" यह कहना नहीं बन सकता इससे बन्धादिकोंको भी स्थिर मानना चाहिये अतएव बन्धादि क्षणिक नहीं है और लक्षणभी ऐसा करना चाहिये कि "बन्धादिकं स्थिरं सत्वाद् घटादिवत्" (बन्धादिक स्थिर हैं होनेसे घटादिकी भांति) ऐसे लक्षण करनेसे कोईभी दोष नहीं आता और बन्धका स्थिरत्वभी सिद्ध होता है ॥ ३५ ॥

श्रुतिन्यायविरोधाच्च ॥ ३६ ॥

"सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" "तम एवेदमग्र आस" (हे सौम्य ! यह जगत् पहलेभी सत्‌ही था) (यह जगत् पहिले तमही था) इन श्रुतियोंसे जगत्‌का सद् होना सिद्ध होता है और "कथमसतः सज्जायेत" (असत्‌से सत्‌की उत्पत्ति कैसे होसकती है) इस युक्तिसेभी जगत्‌का पूर्वकालमें होना और क्षणिकवादकी

---

* वा जो पदार्थ किसी इन्द्रिय द्वारा पहिले प्रत्यक्ष हो चुका है उसीको फिर किसी इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष करके पूर्वकालका स्मरण करनेका नाम प्रत्यभिज्ञा है।

दोषापत्ति सिद्धि होती है अतएव बन्धनको क्षणिक मानना श्रुति और न्याय दोनोंसे विरुद्ध है ॥ ३६ ॥

दृष्टान्तासिद्धेश्च ॥ ३७ ॥

क्षणिकमें जो दीपशिखाका दृष्टान्त दिया उसकी भी असिद्धि होती है क्योंकि क्षण ऐसा सूक्ष्मकाल है कि जिसकी इयत्ता(तादाद)कुछभो नहीं होसकती जैसे परमाणुओंकी इयत्ता नहीं है इसी प्रकार क्षणकीभी इयत्ता नहीं है तब दीपशिखा एक क्षण एकभावसे रहती है यह कथनभी सर्वथा अयुक्त है इसका कारण यह है कि दीपशिखाकी स्थिरता कितनेही क्षणतक अर्थात् दो वा एक मिनटतक समान देखनेमें आती है तो दीपशिखा प्रतिक्षण बदलती है यह कथन भी प्रत्यक्षसे विरुद्ध होगा और क्षणिकवादियोंके मतमें एक दोष यहभी होगा कि वह किसी वस्तुमें कार्य्य कारण भाव नहीं कह सकते जैसे घटका कारण मृत्तिका है यह कथन नहीं बन सकता क्योंकि जिस क्षणमें मृत्तिका घटका कारण रूपथी वह क्षण अब नष्ट होगया और यहभी नहीं कह सकते कि घट और मृत्तिकाका कार्य्य कारण भाव नहीं है क्योंकि बिना कारण जाने घट बनानेमें कुलालकी प्रवृत्ति नहीं होती और यदि दोनोंकी अर्थात् मृत्तिका और घटकी उत्पत्ति एकक्षणहीमें मानै तो ॥ ३७ ॥

युगपज्जायमानयोर्न कार्य्यकारणभावः ॥ ३८ ॥

जो पदार्थ एक साथ उत्पन्न होते हैं उनमें कार्य्य कारण भाव नहीं होता क्योंकि ऐसा कोईभी दृष्टान्त नहीं है जिसमें कार्य्य कारण दोनोंकी उत्पत्ति एक साथही हो और यदि

क्षणिकबादी यह कहें कि मृत्तिका और घट क्रमसे हैं अर्थात् पहिले मृत्तिका रूपी कारण पीछे घट रूपी कार्य्य ॥ ३८ ॥

पूर्वापाये उत्तरायोगात् ॥ ३९ ॥

तो पूर्वोक्त पक्षमें यह दोष होगा कि जब पूर्वक्षणमें मृत्तिकारूपी कारणका नाश हो जाता है तब पीछे उससे कार्य्य घट क्यों कर उत्पन्न हो सकता है? क्योंकि जबतक उपादान कारण न माना जाय तब तक कार्य्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती वह कार्य्य कारण भाव क्षणिकवादियोंके मतसे सिद्ध नहीं हो सकता ॥ ३९ ॥

तद्भावे तदयोगादुभयव्यभिचारादपि न ॥ ४० ॥

पूर्व (कारण) की विद्यमानतामें उत्तर (कार्य्य) का अयोग (अभाव) होनेसे और कार्य्यकारणका व्यभिचार होनेसेभी पूर्वक्षत सिद्धान्त ठीक नहीं हो सकता यह अन्वय व्यतिरेक भाव तभी हो सकता है जब कि कार्य्य कारणकी स्थिरता स्वीकार कीजाय वह स्थिरता क्षणिक बादसे नहीं हो सकती अतएव उक्त मत दूषित रहा। यहां पर यह सन्देह होता है कि जिस प्रकार निमित्त कारणका पूर्वभाव (पहले होना) माना जाता है इसी प्रकार उपादान कारणका भी पूर्वभाव माना जाय तो क्या दोष है इसका उत्तर यह है ॥ ४० ॥

पूर्वभावमात्रे न नियमः ॥ ४१ ॥

यदि कारणको नियत न मान कर पूर्वभाव मात्रही मानें तो यह नियम न रहेगा कि मृत्तिकाहीसे घट बनता है वा

कज्जलसे, क्योंकि क्षणिकवादी किसी विशेष कारणको नियत भावसे तो मानेंगेही नहीं किन्तु भावही मानेंगें अतएव उपरोक्त दोष रहा ॥ इस सूत्रका यह भी अर्थ हो सकता है कि निमित्त कारण और उपादान कारण इन दोनोंमें कुछ भी भेद पूर्वभाव मात्र माननेसे न रहेगा क्योंकि कुलाल घटका निमित्त कारण है और मृत्तिका उपादान कारण है यह नियम क्षणिकवादी कदापि न कर सकेंगे अतएव उनके कथनानुसार आत्माका बन्ध मानना भी सर्वथा अयुक्त है॥ अब विज्ञानवादियोंका मतभी अयुक्त सिद्ध करते हैं विज्ञानवादी कहते हैं कि जो कुछ वस्तु संसारमें है वह मिथ्याही है अतएव बन्ध नाश हो जानेके लिये कारण खोजनेकी कोई आवश्यकता नहीं इसका उत्तर यह है कि ॥ ४१ ॥

न विज्ञानमात्रं बाह्यप्रतीतेः ॥ ४२ ॥

इस जगत्को विज्ञान मात्र नहीं कह सकते क्योंकि विज्ञान आन्तरिक (भीतर) होता है और इस जगत्में वाह्य प्रतीति भी होती है ॥ ४२ ॥

तदभावे तदभावाच्छून्यं तर्हि ॥ ४३ ॥

यदि वाह्य न माने तो वह (दीखते हुए जगत्में) विज्ञानकाभी अभाव मानना होगा अतएव जगत्को शून्य कहना पड़ेगा इसका कारण यह है कि प्रतीति विषयका साधन करनेवाली होती है इस लिये यदि वाह्य प्रतीति जगत्का सऽधन न करे तो विज्ञानप्रतीति भी विज्ञानको नहीं सिद्ध कर सकती इस हेतुसे विज्ञानवादमें शून्यवाद हो जायगा ॥ अब

शून्यबादी नास्तिक कहता है कि तत्वमात्र सब शून्य रहो इससे क्या हानि है परन्तु बन्धको अवस्तु मान कर उसके नाशके लिये कारण खोजना तो अयुक्तही है इसी अभिप्रायसे यह वक्ष्यमाण सूत्र शून्यवादीके पूर्वपक्षका कहते हैं ॥ ४३ ॥

शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य ॥४४॥

जितने पदार्थ हैं सब शून्य हैं और जो कुछ भाव (विद्यमान) है वह सब नाशवान् है और जो विनाशी है वह स्वप्नकी भांति मिथ्या है इससे संपूर्ण वस्तुओंके आदि और अन्तका तो अभाव (न होना) सिद्धही हो गया अब रहा केवल मध्यभाग उसमें कुछ सत्व रहा सो भी पारमार्थिक न रहा किन्तु व्यावहारिक रहा तब कौन किसको बांध सकता है ? और कौन किसको छोड़ सकता है ? इस हेतुसे बन्ध मिथ्याही प्रतीत होता है ॥ जो जो भाव वस्तु (विद्यमान) है वह नाशवान् इस लिये है कि नाश होना वस्तुमात्रका धर्म्म अर्थात् स्वभाव है इस शून्यबादीके पूर्व-पक्षका खण्डन करते हैं ॥ ४४ ॥

अपवादमात्रमबुद्धानाम् ॥ ४५ ॥

जो कुछ भाव पदार्थ है वह सब नाशवान् है यह कथन मूर्खोंका अपवाद मात्र है क्योंकि नाशमात्र वस्तुका स्वभाव कह कर नाशमें कुछ कारण न बतानेसे जिन पदार्थोंका कुछ अवयव (आकृति) नहीं है उनका नाश नहीं कह सकते इसका हेतु यह है कि कारणमें लय हो जानेकोही नाश कहते हैं और जब, निरवयव वस्तुओंका कुछ कारण न माना तो उनका लयभी किसीमें न होनेसे उनका नाश न हो सकेगा

इसके अतिरिक्त एक दोष यह भी रहैगा कि लोकमें कार्य्य-मात्रकी अभाव सिद्धि नहीं कह सकते जैसे "घट फूट गया" इस कथनसे यह ज्ञान होगा कि घटकी दूसरी अवस्था हो गयी किन्तु घटरूपी कार्य्य तो बनाही रहा क्योंकि आकृतिको नित्य इस लिये माना है कि वह एक घटके नाश होने पर दूसरे घटमें तो विद्यमान रहती है ॥ ४५ ॥

उभयपक्षसमानक्षेमत्वादयमपि ॥ ४६ ॥

दोनों पक्षों (क्षणिकवादी और विज्ञानवादी) का खण्डन एक रीतिसे कर दिया जाता है इसी प्रकार शून्यवादभी खण्डन हो जाता है जिस प्रकार क्षणिक पक्षके खण्डनमें प्रत्यभिज्ञादि दोष हैं और विज्ञानपक्षमें वाह्यप्रतीति (वाहरकी वस्तु दीखना) आदि खण्डन हेतु हैं इसी भांति यह शून्यवाद भी है, यदि यह कहो कि शून्यवाद करने पर भी पुरुषार्थत्व (मुक्ति) तो स्वीकार करते हैं तो वह भी मानना अयुक्त होगा ॥४६॥

अपुरुषार्थत्वमुभयथा ॥ ४७ ॥

दोनोंही प्रकारसे पुरुषार्थत्व नहीं कहा जासकता अर्थात् दुःख निवृत्ति भी शून्य है और दुःख निवृत्तिके साधन भी शून्य हैं तथा पुरुषार्थ भी शून्यही है तब शून्यवादी सबको शून्य कह कर पुरुषार्थको किस प्रमाणसे उत्तम कह सकते हैं ? अब सामान्य प्रकारके सन्देहोंका खण्डन करते हैं ॥ ४७ ॥

न गतिविशेषात् ॥ ४८ ॥

गति विशेष अर्थात् दूसरे २ शरीरों में प्रविष्ट होना इसी

कार्य्यसे जीवका बन्धन यदि माना जाय तो वह ठीक नहीं क्योंकि गति जीवका स्वाभाविक धर्म है और यदि स्वाभाविक धर्मही बन्धका हेतु हो तो फिर मोक्ष कदापि नहीं हो सकेगा क्योंकि किसी का स्वाभाविक धर्म बन्धका हेतु नहींहो सकता यदि यह कहो कि गति आदि प्रकृतिके धर्म हैं अतएव उनसे बन्धन होना चाहिये सो भी ठीक नहीं क्योंकि ॥ ४८ ॥

निष्क्रियस्य तदसम्भवात् ॥ ४९ ॥

निष्क्रिय अर्थात् जड़ प्रधान (प्रकृति) में गति होना असम्भव बात है अतएव गति आदिसे बन्धन नहीं होसकता यदि जीव को शरीर रूप मानकर उस शरीरके नष्ट होतेही मुक्ति मानी जाय सो भी ठीक नहीं क्योंकि ॥ ४९ ॥

मूर्त्तत्वाद्घटादिवत् समानधर्मापत्तावपसिद्धान्तः ॥५०॥

घटादिकोंकी भांति जो जीवको मूर्त्तिमान् माना जाय तो एक देशीयत्व होगा और घटादिकोंके समान धर्म सावयत्व (टुकड़ोंवाला) और विनाशित्व दोनोंही जीवमें स्वीकार करने पड़ेंगे अतएव आस्तिकोंका सिद्धान्त (जीवको अनादि अनन्त मानना) न रहेगा। आत्माको अपरिच्छिन्न (सर्वव्यापक) होनेमें हेतु कहते हैं ॥५०॥

गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत् ॥ ५१ ॥

"नित्य सर्वगतः" नित्य है सर्वगत है अर्थात् शरीरके सब अवयवोंमें प्रविष्ट है इत्यादि बचनोंसे आत्माका सर्वगत होना

सिद्ध होता है और जो आत्मामें गति (लौकिक व्यवहार) श्रुति (अध्ययनादि) हैं भी वह वास्तविक नहीं हैं किन्तु औपाधिक (उपाधिसे हुए) जैसे घटमें जो आकाश है वह घटको जहां लेजाओ वहीं चला जाता है परन्तु आकाश सर्वव्यापी और क्रिया रहित है इसी भांति देहादिकके कृत कर्म यद्यपि जीवके योगसे होते हैं परन्तु वास्तवमें जीवके यह सब कर्म उपाधि कृत है इसका सारांश यह है कि विहित और निषिद्ध दोनों प्रकारके कर्मोंसे जीवका बन्धन मानना ठीक नहीं है अब कर्मकृत बन्धन-काभी खण्डन करते हैं ॥ ५१ ॥

न कर्मणाप्यतद्धर्मत्वात् ॥ ५२ ॥

कर्मसे भी बन्धन नहीं हो सकता क्योंकि कर्म करना जीव काही धर्म नहीं है यदि गुण (सत्व,रज,तम) से बन्धन माने वह भी ठीक नहीं हो सकता क्योंकि ॥ ५२ ॥

अति प्रसक्तिरन्यधर्मत्वे ॥ ५३ ॥

इसमें अति प्रसक्ति दोष होगा अर्थात् तीनों गुण एकही कालमें बन्धन नहीं कर सकते और जब एकही कालमें बन्धन नहीं कर सकते तो यहभी निश्चय नहीं होगा कि कौनसे गुणसे बन्धन हुआ है और निश्चय न होने पर बन्धन छुड़ानेकाभी उपाय नहीं होसकता ॥ यदि यह कहा जाय कि निर्गुणत्वही एक पदार्थ है वही जीवके बन्धनका हेतु है वहभी अयुक्त है क्योंकि ॥ ५३ ॥

निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति ॥ ५४ ॥

"साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" (साक्षी है चैतन्य है केवल

है निर्गुण है)इत्यादिक श्रुतियां केवल ईश्वरही को निर्गुणत्व प्रतिपादन करती हैं यदि जीवमें भी निर्गुणत्वादि माना जाय तो ईश्वर और जीवमें भेदहीक्या रहेगा ? और अन्यका स्वभाव अन्यमें आरोपित करना पड़ेगा अतएव ईश्वर प्रतिपादिका श्रुतियोंसे बिरोध होगा इस सूत्रमें "इति" शब्दसे यह प्रयोजन है अब बन्धके हेतुओंका विचार इसी सूत्रतक समाप्त हुआ अब इससे आगे अन्य विचार मुक्तिके विषयमें आरम्भ करते हैं ॥ कि जब प्रकृति और पुरुषका संयोग स्वाभाविक वा काल आदि निमित्तोंसे हो तो क्या मुक्त पुरुष बद्ध नहीं हो सकता इसका उत्तर लिखते हैं कि ॥ ५४ ॥

तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम् ॥ ५५ ॥

प्रकृति संयोग अविवेकसे होता है और मुक्त जीवमें अविवेक नहीं रहता अतएव वह बद्ध नहीं कहा जासकता यदि मुक्त जीवमें अविवेककी विशेषता पाई जावे तो मुक्त और अमुक्त दोनों ही समान हैं अब रहा यह कि जीवकी वासना जो जन्मादिमें हेतु है वह जन्म कौन २ कारणोंसे होता है तो इसका उत्तर यह है कि एक तो साक्षात् (वह कर्म जिनका तत्काल फल मिलता है) दूसरा धर्माधर्म (जिन कर्मोंसे धर्माधर्म उत्पन्न होकर वह धर्म अधर्मही जन्ममें हेतु होता है) तीसरा राग द्वेषादि इन तीन प्रकारके जन्मकारक कर्मों को हेय (त्यागने योग्य) कहा है इनका नाश किस प्रकार होसकता है वही कहते हैं ॥ ५५ ॥

नियतकारणात् तदुच्छित्तिर्ध्वान्तवत् ॥ ५६ ॥

उनका नाशभी नियमित कारणोंसे हो जाता है जिसप्रकार

शुक्ति (सीप) में चांदीकी भ्रान्ति होती है वह शुक्तिका विवेक होतेही नष्ट होजाती है और वही विवेक उस भ्रान्तिके नाशमें नियत कारण है इसी प्रकार जन्मकारिणी वासना जो बुद्धिसे सम्बन्ध रखती है उसका जीवकी विवेक हो जानाही मुक्त होना है। अब यहां पर यह सन्देह होता है कि जब प्रकृति और पुरुषका अविवेकही प्रकृति संयोग द्वारा बन्धका हेतु है और प्रकृति पुरुषका विवेकही मोक्षका हेतु है तो देह (शरीर) के अभिमान होते भी वह विवेक उत्पन्न होजायतो मुक्ति होसकती है वा नहीं यदि हो तो ऐसी मुक्ति श्रुत्यादिकोंसे विरुद्ध है ॥ ५६ ॥

प्रधानाविवेकादन्याविवेकस्य तद्धाने हानम् ॥ ५७ ॥

पुरुषमें प्रधान * अविवेक होनेसे बुद्ध्यादिकोंका अविवेक गौण (अप्रधान) है और पुरुषका प्रधान अविवेक बुद्ध्यादिकोंके अविवेकका कारण है अतएव बुद्ध्यादिकोंका अविवेक कार्य्य रूप होनेसे अनित्य है और पुरुषका अविवेक कारण होनेसे अनादि है अब यहांपर यह शङ्का होती है कि पुरुषके प्रधान अविवेक में क्या प्रमाण है ? क्योंकि "मैं मूर्ख हूं" "मैं पण्डित हूं" इत्यादिक कथन सब बुद्धिविषयक होनेसे बुद्धिहीमें अविवेक सिद्ध होता है इसका उत्तर यह है कि "मैं बार बार शरीर त्यागकर जब पृथ्वीपर जन्म धारण करूं तब मुझे स्वर्गसुख मिले नरकके

---

* अविवेक दो प्रकारका है एक तो प्रधान अर्थात् मुख्य और दूसरा अप्रधान अर्थात् गौण, अप्रधान अविवेकका प्रधान अविवेक कारण है, प्रधान अविवेक जीवमें है, अप्रधान बुद्ध्यादिकोंमें है।

दुःख आदि न मिलें" इस प्रकारके लौकिक अनुभवोंसे पुरुषमें ही प्रधान अविवेकका निश्चय होता है क्योंकि बार बार मरना और जन्म लेना यह कार्य्य बुद्धिका नहीं है किन्तु जीवका है इसका हेतु यह है कि जीव प्रलय होनेके अनन्तरभी जन्म लेता है और जब जब जन्म लेता है तब तब संयोग वशात् अन्यान्य बुद्धियोंके परिणामको प्राप्त होता है बुद्धि आदिक जन्मान्तरोंमें एकही नहीं बने रहते अतएव उनके अविवेकको अनादिभी नहीं कह सकते और अब इसमें यदि यह सन्देह हो कि यदि बुद्धि आदिका अविवेक कार्य्यरूप होनेसे अनादि नहीं, इसका कारण क्या है क्योंकि कारण बिना कार्य्य नहीं होता यह नियम है तब इससे पुरुषका प्रधान अविवेकही कारण कहा जायगा लोकमेंभी यही देखा जाता कि जिसको सुवर्णमें स्वत्वाभिमान होता है उसका सुवर्णसे बने हुए परिणामी आभूषणोंमें भी स्वत्वाभिमान होताही है इसी भांति जीवमें जब अविवेक है तो उसके परिणामी बुद्धि आदिमें भी अविवेक उसीका कहा जावेगा अब रहा यह कि प्रधान अविवेक और उसकी वासना में कौन अनादि है तो इसकी कोईभी आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह दोनों बीजाङ्कुरके समान है इनमेंसे किसीकोभी पहले पीछे नहीं कह सकते ॥ इस सब सूत्रका आशय यह हुआ कि पूर्व सूत्रके अन्तमें जो शङ्का कीथी कि यदि प्रकृति पुरुषका विवेक इसी शरीरसे हो जाय तो मनुष्य इसी शरीरमें मुक्त हो सकता है उसके उत्तर पक्षमें यह सूत्र है कि पुरुषके प्रधान अविवेकसे अतिरिक्त जो बुद्धि आदिकोंका अविवेक है जब तक वह नष्ट न होगा तब तक कदापि मुक्ति न होगी और

बुद्धि आदिका अविवेक इस शरीरके रहते नष्ट नहीं हो सकता जब तक बुद्धि रहैगी तब तक उसका अविवेक भी बना रहैगा अतएव इसी शरीरमें मुक्त कहना नहीं हो सकता ॥ अब कोई शंका करता है कि ॥ ५७ ॥

वाङ्मात्रं न तु तत्त्वं चित्तस्थितेः ॥ ५८ ॥

बन्धादिक सब चित्तहीको होते हैं अतएव पुरुषमें बन्धादि कहना केवल कथन मात्र है वास्तिक नहीं है जैसे जबाका पुष्प स्फटिकके समीप रखनेसे स्फटिकमें भी कुछ ललाई आ-जाती है परन्तु वह ललाई औपाधिक है वास्तविक नहीं इसी भांति पुरुषमें भी बन्ध वास्तविक नहीं है। अब यहां पर यह सन्देह होता है कि यदि पुरुषमें बन्धन कथन मात्र है तो उसका नष्ट होना अत्यन्त पुरुषार्थ क्यों है और विवेकाविवेक अन्य (चित्तादि) के स्वभाव हैं उनसे दूसरे (जीव) का बन्ध मानने पर * कर्मादिकोंकी भांति अव्यवस्था होगी तो इसका वही (पूर्व पक्ष कर्त्ता) समाधान करता है कि यद्यपि विवेक और अविवेक चित्तके धर्म हैं तथापि पुरुषमें यदि बन्धको वाङ्मात्र (कथन मात्र) ही माना जाय तो वह केवल युक्तिसे ही दूर हो सकता है विवेककी क्या आवश्यकता है इसका समाधान यह है कि ॥ ५८ ॥

---

* जैसे कर्मोंमें अव्यवस्था पूर्व सूत्रोंमें दिखा आये हैं अर्थात् देहादि कृतकर्मों से जीवका बन्धन स्वीकार करने पर अन्यके किये कर्मोंसे अन्यका बन्धन यह अव्यवस्था होगी।

युक्तितोऽपि न बाध्यते दिङ्मूढवदपरोक्षादृते ॥ ५६ ॥

युक्तिसे भी उसका नाश नहीं हो सकता किन्तु वाङ्मात्र होने परभी प्रयत्न अवश्य करना पड़ेगा जैसे कोई पुरुष दिशाओंको भूल कर पूर्वको उत्तर मानता है तो यद्यपि यह दिशाको उलटा मानना केवल कथन मात्र है तथापि उसको बिना बताये कदापि दिशाका ठीक ज्ञान नहीं हो सकता इसी भांति पुरुषमें भी बन्ध निवृत्ति के लिये विवेककी आवश्यता होती है क्योंकि "अपरोक्ष्यादृते" प्रत्यक्ष प्रमाणके बिना उसे दिशाका ठीक ज्ञान नहीं हो सकता, जब तक दिशाके भूले हुएको सूर्य चन्द्रमा आदि अपनी नियत दिशाओंसे उदय होनेवाले पदार्थों द्वारा उसे प्रत्यक्ष न कराया जाय तब तक पूर्वको उत्तर माननेवाला कदापि उस भ्रमसे नहीं छूट सकता इसी भांति प्रकृति और पुरुषका विवेक जब तक प्रत्यक्ष साधन शास्त्रावलोकन श्रुत्यादि विहित कर्मोंके बिना नहीं हो सकता ॥ ५६ ॥

अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिव वह्नेः ॥६०॥

जो विषय प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु परोक्ष हैं उनकाभी अनुमानसे ज्ञान होता है जिस प्रकार अति दूरसे धूम देखकर यद्यपि अग्नि नहीं देखी तोभी अग्निका बोध होजाता है ॥६०॥

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान्, महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्च तन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गुणाः६१

सत्व, रज, तम इन तीनों गुणोंकी जो साम्यावस्था अर्थात्

न्यून अधिक न रहकर समानभावसे रहना इसीका नाम प्रकृति है उक्त तीन गुणोंकी साम्यावस्थाही प्रकृति है अर्थात् इनसे (तीनों गुणोंसे) भिन्न किसी अन्य पदार्थका नाम प्रकृति है और वह सत्वादिक प्रकृतिके धर्म नहीं है किन्तु सत्वादिका रूपही प्रकृति है॥ इस उपरोक्त लक्षणका आशय यह हुआ कि "कार्यको प्राप्त न हुए हों ऐसे इन्हीं तीन गुणोंका नाम प्रकृति है" यही मूल प्रकृतिका लक्षण यह है कि जो और तत्वोंका उपादान कारणहो उसका नाम प्रकृति है॥ उस प्रकृतिसे महत्तत्व उत्पन्न होता है महत्से अहङ्कार और अहङ्कारसे पांच तन्मात्रा अर्थात इन्द्रियोंका विषय और दोनों इन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय और तन्मात्राओंसे स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं और एक पुरुष एवं समस्त * मिल कर यही उपरोक्त पञ्चविंशति (पचीस) गुण हैं॥ ६१॥

स्थूलात् पञ्चतन्मात्रस्य॥ ६२॥

स्थूल जो पृथिवी आदिक हैं उनसे तन्मात्रा अर्थात् रूपरसादि इनका अनुमानसे ज्ञान होता है क्योंकि स्थूल पदार्थही अपनी अन्तिम दशाको प्राप्त होकर तन्मात्रा रूप होगये हैं अतएव स्थूल पदार्थके दूसरा तन्मात्राओंका अनुमान होता है लौकिक नियमभी एसाही देखा जाता है कि स्थूल पदार्थमें

---

* १ प्रकृति २ महत् ३ अहङ्कार ४ रूप ५ रस ६ गन्ध ७ स्पर्श ८ शब्द ९ वाक् १० पाणि ११ पाद १२ गुदा १३ उपस्थ १४ नेत्र १५ जिह्वा १६ नाक १७ त्वचा १८ कान १९ मन २० पृथिवी २१ जल २२ तेज २३ वायु २४ आकाश २५ पुरुष अर्थात् जीव। वा ईश्वर।

जैसा बिशेष गुण होता है वैसाही गुणवाला द्रव्यभी उनके द्वारा उत्पन्न होता है जैसे तन्तुका गुण पटमें देखा जाता है ॥ ६२ ॥

बाह्याभ्यान्तराभ्यां तैश्चाहङ्कारस्य ॥ ६३ ॥

बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकारके इन्द्रिय तथा उनकी तन्मात्रा इनसे अहङ्कारका बोध होता है क्योंकि अहङ्कारके इन्द्रिय तन्मात्राए कार्य हैं अतएव अभिमानका यह इन्द्रियादि कार्य्य हैं यदि यह सब अहङ्कारके कार्य नहोते * तो इन्द्रियादिमें इसके गुणभी दृष्टिगत नहोते जैसे यह सब पुरुषके कार्य नहीं है और न पुरुष इनका कारण है अतएव इनमें पुरुषके गुणभी दृष्टिगत नहीं होते ॥ ६३ ॥

तेनान्तःकरणस्य ॥ ६४ ॥

अहङ्कार रूपी कारणसे अन्तःकरणका बोध होता है अहङ्कार अन्तःकरणका कारण है क्योंकि अहङ्कार जो द्रव्य है वह निश्चय वृत्तिवाले द्रव्य (अन्तःकरण) का उपादान कारण होता है इसका हेतु यह है कि अन्तःकरण (जिसमें निश्चय होता है) वहभी द्रव्य है और अहङ्कारभी द्रव्य है यदि अहङ्कार नहोतो अन्तःकरणभी नहीं हो सकता जैसे अन्तःकरण पुरुषका कार्य नहीं है उसमें पुरुषका गुणभी नहीं दृष्टिगत होता और लौकिक व्यवहारभी यही है कि पहिले पदार्थके स्वरूपका निश्चय करके

---

* इस प्रकारके दृष्टान्तको व्यतिरेक दृष्टान्त कहते हैं जिसका लक्षण पहिले भी लिख आये हैं कि कारणके न होनेसे कार्य्यका न होना ।

पीछे उसे स्वीकार करता है "मैंने यह किया" "मुझे यह करना है" इत्यादिक सब बिचार अन्तःकरणसे होते हैं और जहां २ "मैं" शब्द आता है वही अहङ्कारका कार्य है और इसी भांति जिस २ कार्यमें जैसा २ गुण जिस २ द्रव्यका देखा जावे उसी द्रव्यको परम्परा सम्बन्धसे उसका कारण मानना चाहिये ॥ ६४ ॥

ततः प्रकृतेः ॥ ६५ ॥

प्रकृतिका कार्य्य महत्तत्व है अतएव महत्तत्व कार्य्यसे प्रकृति कारणका अनुमान द्वारा बोध होता है और कार्य्य कारण भाव शून्य जो पुरुष है उसका अनुमानभी इन वक्ष्यमाण कारणोंसे होता है ॥ ६५ ॥

संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य ॥ ६६ ॥

महदादिक जितने कारण हैं वह सब परार्थ अर्थात् अपने अतिरिक्त किसी अन्यके लिये विकार वा परिणाम द्वारा फल-साधक हैं इसीसे पुरुषका बोध होता है क्योंकि जब यह सब कारण, परार्थ हैं तो किसके लिये हैं ? इस प्रश्नके उत्तरमें यही कहा जावेगा कि पुरुषके लिये, तब इसीसे पुरुषका अनुमान द्वारा बोध होता है इसमें दृष्टान्त यह है कि जिसप्रकार उज्वल शय्या बिछी हुई है तो उससे यह बोध होगा कि यह किसी मनुष्यके लिये शयन करनेके हैं ॥ अब यहांपर यह सन्देह होता है कि प्रकृतिही सबका कारण है और प्रकृतिका कोईभी कारण नहीं इसमें क्या प्रमाण है इसका उत्तर यह है कि ॥ ६६ ॥

मूले मूलाभावादमूलं मूलम् ॥ ६७ ॥

कारणका कारण नहीं होता अतएव कारणको अमूल अर्थात् कारण रहित कहना चाहिये और इस सूत्रका यहभी अर्थ होसकता है कि जो शंका प्रकृतिके कारणमें की वह पुरुष के कारणमें कीजावे और उसके समाधानमें यह सूत्र कहा जावे कि पुरुष अमूल (कारण रहित है) है इस प्रकारका अर्थ महादेव वेदान्तीने किया है वह इस कारणसे युक्त नहीं हो सकता कि अगले सूत्रोंसे प्रकृतिके ही कारणत्व में पूर्व पक्ष उत्तर पक्ष किये हैं पुरुष कारणमें नहीं, दूसरा हेतु यहभी है कि सांख्यके आचार्य्य कपिलजी पुरुषको उपादान कारण नहीं मानते अतएव उसके विषयमें एसी शङ्काभी नहीं होसकती ॥ पुरुष उपादान कारण क्यों नहीं हो सकता इसका वर्णन आगे किया जावेगा॥ अब एक शङ्का इस सूत्रमें होती है कि कारणका कारणभी लोकमें देखा जाता है जैसे घटका कारण मृत्तिका और मृत्तिकाका कारण परमाणु, तो इसका उत्तर यह है कि ॥ ६७ ॥

पारम्पर्य्येऽप्येकत्र परिनिष्ठेति संज्ञामात्रम् ॥ ६८ ॥

कारणोंकी परम्परामें एकत्र अर्थात् मृत्तिका आदिमें कारणत्व मानना केवल संज्ञा मात्र है वास्तवमें तो परमाणुही सब के कारण हैं ॥ ६८ ॥

समानः प्रकृतेर्द्वयोः ॥ ६९ ॥

द्वयोः अर्थात् घटादिक कार्य्य और मृत्तिकादि निमित्त कारण इन दोनोंके विषयमें प्रकृतिका समान सम्बन्ध है इसका आशय यह हुआ कि परम्परा सम्बन्धसे प्रकृतिही को कारण

कह सकते हैं वह प्रकृति नित्य है अतएव उसका कोईभी कारण नहीं हो सकता ॥ ६९ ॥

अधिकारित्रैविध्यांन्न नियमः ॥ ७० ॥

यद्यपि प्रकृति सबका उपादान कारण है परन्तु प्रत्येक कार्य्य में जो तीन प्रकारके कारण माने हैं अर्थात् १ उपादान २ निमित्त और ३ असाधारण, इनकोभी व्यवस्था न रहैगी क्योंकि मृत्तिका, कुलाल, दण्डादिकोंका कारण प्रकृतिही ठहरी तो इन तीन कारणोंकी अनावश्यकता होनेसे बहुत गोलमाल होगा इसका हेतु यह है कि फिर कोई भी किसीका निमित्त वा असाधारण कारण न रहैगा अतएव जहां २ कारणत्व कहा जाय वहां२ प्रकृतिको छोड़ कर कहना चाहिये क्योंकि प्रकृति तो सबका कारण है ही उसके कहनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं है जैसे कुलालके पिताको घटका कारण कहना अनावश्यक है क्योंकि वह तो अन्यथासिद्ध है ही यदि वही न होता तो कुलाल कहांसे आता ? परन्तु घटके बननेमें कुलालके पिता की कोई भी आवश्यकता नहीं है ऐसाही नवीन नैयायिकभी मानते हैं कि कारणत्व प्रकृतिको छोड़ कर कहना चाहिये ॥७०॥

महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः ॥ ७१ ॥

प्रकृतिका पहला कार्य महत् है और उस महत्से मनकी उत्पत्ति होती है जैसा कि ६१के सूत्रमें कह चुके हैं ॥७१॥

---

१ उपादान कारण जैसे घटका मृत्तिका। २ निमित्त कारण जैसे घटका कुलाल। ३ असाधारण जैसे घटके दण्ड आदि।

चरमोऽहङ्कारः ॥ ७२ ॥

और प्रकृतिका पिछला कार्य अहङ्कार है ॥ इन दोनो सूत्रों का तात्पर्य यह है कि यदि प्रकृतिको कारणत्व कहा जावे तो केवल इनही दो कार्योंका कहना उचित है अन्य कार्यों का कारण महदादिकों कहना चाहिये इसी बातको अगले सूत्रोंसे स्पष्ट करते हैं ॥ ७२ ॥

तत्कार्यत्वमुत्तरेषाम् ॥ ७३ ॥

औरोंको महदादिकोंका कार्य्यत्व कहना चाहिये ॥ अब यहां यह सन्देह होता है कि पहिले प्रकृतिको सबका कारण कह चुके अब महदादिकोंको क्यों कारण कहते हैं तो इसका उत्तर यह है कि ॥ ७३ ॥

आद्यहेतुता तद्द्वारा पारम्पर्य्येऽप्यणुवत् ॥ ७४ ॥

जिस प्रकार परंपरा सम्बन्धसे घटादिके कारण अणु मानेथे उसी भांति परम्परा सम्बन्धसे महदादिकोंका कारणभी प्रकृतिही है अतएव कुछ दोष न रहैगा ॥ ७४ ॥

पूर्वभावित्वे द्वयोरेकतरस्य हानेऽन्यतरयोगः ॥ ७५ ॥

प्रकृतिके पूर्व भावमें एक युक्ति यह भी कि कार्य्य और कारण इन दोनोंमेंसे कार्य्यका नाश होने पर वह अपने उत्तरोत्तर कारणोंमें लिलता जाता है अतएव अन्त्यमें कार्य्य मात्रका लय प्रकृतिहीमें होता है और कोई कोई इस सूत्रका यहभी

अर्थ करते हैं कि जब प्रकृति और पुरुष दोनोंही अनादि हैं तो पुरुषको कारण न मानकर प्रकृतिहीको क्यों कारण माना जाता है इस पूर्व पक्षके उत्तरमें यह सूत्र है कि यद्यपि दोनों का पूर्वत्व है परन्तु पुरुषको परिणामी नहीं माना अतएव वह कारण नहीं हो सकता किन्तु प्रकृतिही परिणामशीला है इस कारण उसीको कारण मानना चाहिये और पुरुषके अपरिणामित्वमें ६६ का सूत्रही प्रमाण है, यदि यह कहा जाय कि पुरुषको प्रकृति द्वारा परिणामी मानकर (अर्थात् पुरुष प्रकृति द्वारा समस्त कार्य्योंका कारण है) उसमें कारणत्व कहैं तो दो कारण कल्पना करनेमें गौरव होगा अतएव प्रकृतिको ही परिणामी कहना चाहिये और पुरुषमें तो केवल इतनाही प्रतीत होता है कि जिस प्रकार सैनिकोंकी करी हुई जयपराजय राजामें सङ्घटित होती है इसी भांति प्रकृति कृत दुःखादिकोंका आभास पुरुष पर पड़ता है अब यहां पर यह सन्देह होता है कि प्रकृति नित्यक्यों है ? तो इसका उत्तर यह है कि ॥ ७५ ॥

परिच्छिन्नं न सर्वोपादानम् ॥ ७६ ॥

अनित्य पदार्थ सबका उपादान कारण नहीं हो सकता ॥७६॥

तदुत्पत्तिश्रुतेश्च ॥ ७७ ॥

और अनित्य पदार्थकी उत्पत्ति भी सुनी जाती है एवं जब उत्पत्ति है तो मरण अर्थात् नाश भी अवश्य स्वीकार करना होगा। अब रहा यह कि नवीन वेदान्ती अविद्या द्वारा संसारको

उत्पत्ति मानते हैं वही क्यों न स्वीकारकीजाय ? तो इसमें यह दोष होगा कि ॥ ७७ ॥

नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः ॥ ७८ ॥

अविद्या आदि जो अवस्तु हैं उनसे वस्तु जो संसार उसकी सिद्धि अर्थात् उत्पत्ति नहीं हो सकती जैसे मनुष्यके सींगोंसे धनुष् नहीं बनसकता । अब यहां पर यह सन्देह होता है कि अविद्यादिको अवस्तु न कह कर संसार ही को अवस्तु क्यों न कहा जाय तो इसका उत्तर यह है कि ॥७८॥

अबाधाददुष्टकारण जन्यत्वाच्च नावस्तुत्वम् ॥ ७९ ॥

जैसे स्वप्नके पदार्थोंका जाग्रत् अवस्थामें बाध हो जाता है और शङ्खकी पीलाई जो नेत्रोंके दोषसे प्रतीत होती है एवं उस रोगके नष्ट होने पर वह पीतिमाभी नष्ट हो जाती है इस भांति संसार की उत्पत्ति किसी दुष्ट अर्थात् अनित्य कारणसे नहीं है अतएव इस संसारको अवस्तु कदापि नहीं कह सकते ॥ जो ७२ वें सूत्रमें अवस्तुसे वस्तु सिद्धिका निषेध कियाथा उसमें हेतु कहते हैं कि ॥ ७९ ॥

भावे तद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तदभावात्
कुतस्तरांतत्सिद्धिः ॥ ८० ॥

जब कारण भावरूप होगातो उससे कार्यभी सत् उत्पन्न होगा और जब कारण अभाव होगा तो उसका कार्य कुछभी न होगा और नियमभी यही है कि जैसा गुण कारणमें होगा वैसाही उसके कार्यमें भी होगा ॥ इस प्रकारकी उत्पत्ति में जैसे

प्रधानको कारण मानते हैं इसी भांति कर्महीको कारण माना जायतो क्या दोष है? तो यहभी अयुक्त है क्योंकि ॥ ८० ॥

न कर्मण उपादानत्वायोगात् ॥ ८१ ॥

प्रारब्ध कर्मोंसे वस्तु सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि प्रारब्ध कर्ममें उपादानका अयोग है अर्थात् उसका उपादानके साथ कुछभी सम्बन्ध नहीं है और जब उपादानसे उनका कुछभी सम्बन्ध नहींतो वह वस्तुसिद्धिके कारण क्यों होसकते हैं? और दूसरा कारण यहभी है कि प्रकृति द्वारा वस्तुकी उत्पत्ति द्रव्य पदार्थही कर सकता है परन्तु कर्म द्रव्य नहीं है अतएव कर्मको कारण मानना ठीक नहीं है। अब पांच सूत्रोंसे इस बातको सिद्ध करते हैं कि किसी प्रकारका भी कर्म मोक्षका हेतु नहीं होसकता ॥ ८१ ॥

नानुश्रविकादपि तत्सिद्धिः साध्यत्वेनावृत्तियोगाद-पुरुषार्थत्वम् ॥ ८२ ॥

आनुश्राविक अर्थात् वेद विहित कर्म जो यज्ञादि उनसेभी मोक्ष नहीं होसकता क्योंकि जब मोक्ष कर्म साध्य रहातो उन कर्मोंकी वासना रहनेसे फिरभी दुःखमें आना पड़ेगा तो एसी मोक्षको अपुरुषार्थ कहना चाहिये इसका कारण यह है कि दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्तिको मोक्ष आचार्यने शास्त्रके आदिमें माना है और इस प्रकार यागादि कर्म यदि किसीने थोड़े यागादि कियेतो थोड़ी मुक्ति होगी, और बहुत यज्ञकियेतो बहुत मुक्ति होगी, तथा मुक्ति अवस्थामें उसकी वासना यही बनी रहेगी कि अबकी

बार औरभी उत्तम कार्य करूं जिससे अच्छी मोक्षहो अतएव मोक्षमें थोड़ी और बहुतकी व्यवस्था माननी पड़ेगी इस कारण कर्मकृत मोक्ष मानना ठीक नहीं ॥ ८२ ॥

तत्र प्राप्तविवेकस्यानावृत्तिश्रुतिः ॥ ८३ ॥

(तत्र) तिस हेतुसे प्राप्त विवेक प्रधान को अर्थात् जिसको ज्ञान होगया है ऐसे आत्माको कर्मकी वासना नहीं रहती अब यहां पर यह सन्देह होता है कि तो वह कर्म यज्ञादिक कैसे हैं तथा उनका कैसा फल है इसका उत्तर यह है ॥ ८३ ॥

दुःखाद्दुःखं जलाभिषेकवन्न जाड्यविमोकः ॥ ८४ ॥

इन वेद विहित कर्मोंसे जन्मान्तर की वासना रहने के कारण दुःखसे दुःखही होता है किन्तु जड़ताका नाश नहीं होता, जैसे किसी शीतज्वर पीड़ित पुरुषको जलसे स्नान कराया जायतो उसका दुःख अधिक बढ़ेगा न्यून नहोगा अब रहा यह सन्देह कि यदि कामना रहित कर्म किये जायतो क्या उनका फल मोक्ष न होगा ? इसका उत्तर यह है कि ॥ ८४ ॥

काम्येऽकाम्येऽपि साध्यत्वाविशेषात् ॥ ८५ ॥

काम्य वा अकाम्य दोनों प्रकारके कर्मोंही से मोक्ष नहीं होती क्योंकि दोनों प्रकारके कर्मोंके साध्यत्वमें अविशेषता है इस सूत्रका आशय यह है कि यदि काम्य वा अकाम्य किसी प्रकारके भी कर्मसे मोक्ष होती दोनों प्रकारके कर्म समान हैं क्योंकि अकाम्य और काम्य इनके साधनमें कुछभी विशेषता

नहीं है उन्हीं वैदिक आज्ञाओंसे काम्य और अकाम्य दोनोंही समान विहित हैं और "ऋतेज्ञानान्नमुक्तिः" (विना ज्ञानके नहीं होगी) इस श्रुतिसे विरोध होगा * ॥ ८५ ॥

निजमुक्तस्य बन्धध्वंसमात्रं परं न समानत्वम् ॥ ८६ ॥

जो जीव अपने ज्ञानसे मुक्त हो सकता है उसका उक्त दोनों प्रकारके कर्मोंसे बन्धध्वंस करना उत्तम नहीं हो सकता क्योंकि कर्म सब नाशवान् हैं काम्य हो ; वा अकाम्य हो ; उनका नाश और वासनाओंके कारण पुनर्दुःखमें आबद्ध होना यह बातें कर्ममें है अतएव कर्म और ज्ञान समान नहीं हैं ॥ अब मुक्तिके उपायों को प्रमाणों द्वारा निश्चय करना आवश्यक है अतएव अब प्रमाणों का निरूपण करते हैं॥ ८६ ॥

---

* इससे यह न समझना चाहिये कि वैदिक कर्म्म करना निष्फल है किन्तु यहां पर मुक्ति विषयमें कर्म्महेतु नहीं है इस बातकी पुष्टिके लियेही वैदिक कर्मोंको अमोक्षदायी लिखा है और वास्तवमें वेदके मन्त्रोंके अर्थोंको बिना जाने और उनके अर्थानुसार आचरणोंको बिना सुधारे वैदिक कर्म भी निष्फल हो जाते हैं वैदिक कर्मोंके करनेका प्रयोजन ही यही है कि चित्तशुद्ध हो और उसमें ज्ञानादर्श अति सरलतासे हो सकता है यह सब बात अनेक श्रुतियोंसे सिद्ध है यथा "स्थाणुरयं किल भारहारः योऽधीत्य-वेदान्नविजानात्यर्थम्" (जो वेदोंके पढ़कर उनके अर्थोंको नहीं जानता वह केवल इनके पठनका भार मात्र उठाता है ।

द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा तत्साधकतमं यत् तत् त्रिविधं प्रमाणम् ॥ ८७ ॥

बुद्धि और पुरुष इन दोनों को अथवा इनमें से किसी * एकको बिना जाने हुए पदार्थका जान लेनेका नाम प्रमा है अर्थात् यथार्थ ज्ञानका नाम प्रमा है उस प्रमाका जो साधकतम (जिससे यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है) उसका नाम प्रमाण है वह प्रमाण तीन प्रकारका है अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, और शब्द ॥८७॥

तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः ॥ ८८ ॥

इन तीन प्रकारके प्रमाणोंसेही सब बातकी सिद्धि होजाती है अतएव अधिक प्रमाण माननेकी कोईभी आवश्यकता नहीं है और मनुनेभी तीनही प्रमाण ठीक माने हैं कि "प्रत्यक्षं

---

* यदि "बिना जाने हुए पदार्थका जानलेना" ऐसा प्रमाका लक्षण न करके केवल इतनाही लक्षण करते कि "पदार्थका जान-लेनाही प्रमा कहाता है" तो स्मृतिमें अतिव्याप्ति होती क्योंकि स्मृतिमें भी स्मरण द्वारा पदार्थका ज्ञान हो जाता है अतएव स्मृति का नाम प्रमा न हो जाय इसीसे "बिना जाने हुएका" यह विशेषण दिया है और स्मृतिमें पदार्थ जाना हुआ होता है और यदि "पदार्थ" न कह कर "बिना जाने हुएका जान लेनाही प्रमा कहाता है" ऐसा कहते तो भ्रममें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि भ्रम अवस्तुमें होता है जैसे रज्जुको सर्प जान लेना अर्थात् बिना जाने हुए सर्पके विशेष अवयवोंको रज्जुमें उसको ठीक जान लेनाही भ्रम है वह भ्रम वास्तवमें अवस्तुमेंही में होता है इसीसे पदार्थका विशेषण दिया है।

चानुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमं॥ त्रयं सुविदितं कार्य्यं धर्म शुद्धिमभीप्सता" उपमान और ऐतीह्य (इतिहास) इन प्रमाणों को अनुमान और शास्त्रके अन्तर्गत मान लेना चाहिये, जो वस्तु प्रत्यक्ष नहीं दीखती उसका अभाव कह देनेकोही अभाव कहते हैं इसके लिये अभाव को जुदा प्रमाण माननेकी कोईभी आवश्यकता नहीं है, इन्हीं तीन प्रमाणों द्वारा सब जगत्के प्रमेय पदार्थों की सिद्ध होजाती है अधिक प्रमाण मानना व्यर्थ है। अब प्रत्यक्षका लक्षण करते हैं॥ ८८॥

यत् सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् ८९

जिसका सम्बन्ध सत् (विद्यमान) पदार्थसे हो और बुद्धिकी वृत्तियोंमें तदाकारका विज्ञान हो जाय उसका नाम प्रत्यक्ष है इस सूत्रका आशय यह है कि चक्षु आदि इन्द्रियोंका जिस पदार्थके साथ सम्बन्ध होता है उसी पदार्थके आकारके समान बुद्धि वृत्तिभी हो जाती है इसी वृत्तिका नाम प्रत्यक्ष प्रमाण है। अब इसमें यह सन्देह होता है कि योगी जनोंको जो प्रत्यक्ष होता है वह चक्षु आदि इन्द्रियोंका पदार्थके साथ सम्बन्ध न होने पर भी त्रैकालिक वस्तुओंका प्रत्यक्ष रहता है तो इस लक्षणके करनेसे उस प्रत्यक्षमें अव्याप्ति होगी इसका उत्तर यह है कि॥ ८९॥

योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः॥ ९०॥

वह लक्षण केवल बाह्य प्रत्यक्षका है और योगियोंका प्रत्यक्ष बाह्य नहीं है किन्तु आन्तरिक है अतएव अव्याप्ति नहीं हो सकती। अथवा॥ ९०॥

लीनवस्तुलब्धाऽतिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः ॥ ९१ ॥

जो वस्तु सन्निकृष्ट नहीं है किन्तु दूसरेके अभिप्रायमें विद्यमान है उसके साथ भी योगीजनोंके प्रत्यक्षका अतिशय सम्बन्ध है अर्थात् उसे भी योगीजन जानलेते हैं अतएव योगियोंके प्रत्यक्षमें दोष नहीं आसकता ॥ अब कोई नास्तिक यह पूर्व पक्ष करता है कि जब चक्षु आदि इन्द्रियोंका सत्पदार्थके साथ सम्बन्ध होकर तदाकार बुद्धि-वृत्तिको प्रत्यक्ष माने तो यह दोष होगाकि ॥ ९१ ॥

ईश्वरासिद्धेः ॥ ९२ ॥

ईश्वरकी असिद्ध होगी अर्थात् ईश्वरका प्रत्यक्ष फिर किसी प्रकारसे हो ही नहीं सकता ॥ यद्यपि ईश्वर आस्तिकोंके सिद्धान्तानुसार सत् है परन्तु न तो उसके साथ किसी इन्द्रियका सम्बन्ध है और न तदाकार बुद्धिकी वृत्ति हो सकती है अतएव ईश्वरकी असिद्धि होगी इस पूर्व पक्षका उत्तर और ईश्वरकी सिद्धि इस अगले सूत्रसे करते हैं ॥ ९२ ॥

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः ? ॥९३॥

ईश्वर बद्ध और मुक्त दोनोंसे भिन्न है इसी हेतुसे क्या उसकी सिद्धि न होगी? अर्थात् अवश्य होगी, इस सूत्रमें नकारको काकुन्यायके अनुसार लगाना चाहिये इस कथनका भाव यह हुआ कि जितने जीव हैं वह दो प्रकारकी श्रेणीमें विभक्त हैं एक बद्ध, दूसरे मुक्त, परन्तु ईश्वर इन दोनोंसे अलग नित्यमुक्तस्वभाव है अतएव जीवोंके प्रत्यक्षकी भांति ईश्वरका भी प्रत्यक्ष

नहीं होता क्योंकि इसके सब कार्य्य जीवोंकी अपेक्षा विचित्र हैं, यदि ईश्वरको बद्ध और मुक्त दोनोंसे पृथक्, नित्य मुक्त न माने तो यह दोष होगा कि० ॥ ९३ ॥

उभयथाप्यसत्करत्वम् ॥ ॥ ९४ ॥

जो मुक्त होगा वह सृष्टि करेगाही क्यों ? और जो बद्ध होगा वह मूर्खताके कारण सृष्टि करही नहीं सकता अतएव उक्त दोनों (बद्धमुक्त) में से किसी बातको ईश्वरमें स्वीकार करने पर इस जगत् में असत्करत्व (अनित्यका बनाया हुआ पन) आता है और यह जगत् नित्य दीखता है इसी कारण ईश्वरको बद्धमुक्त दोनोंसे भिन्न, नित्यमुक्त कहना चाहिये ॥ ९४ ॥

मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासा सिद्धस्य वा ॥ ९५ ॥

अथवा जो मुक्तात्मा योगी जनोंकी प्रशंसा और उपासनासे सिद्ध है उसकी क्या सिद्धि न होगी? अर्थात् अवश्य होगी, क्योंकि जब ईश्वरको मुक्तात्मालोग प्रशंसा और स्तुति करते हैं तब उसमें (ईश्वरमें) कुछ तो अपनेसे अधिक अवश्य मानते होंगे, वह अधिकत्व ईश्वरमें क्या है कि केवल नित्यमुक्तत्व ॥ अन्य जीवोंकी मुक्ति अनित्य है अतएव मुक्त जीव ईश्वरकी उपासना और प्रशंसा करते हैं इसीसे उस (ईश्वर) की सिद्धि हो सकती है ॥९५॥

तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् ॥ ९६ ॥

प्रकृतिके समीप होनेसे ईश्वरमें अधिष्ठातृत्व है इस कथनका भावार्थ यह हुआ कि प्रकृति जड़पदार्थ है उसको ईश्वरके सन्निधान होनेके कारण चैतन्यत्व है यदि प्रकृति और ईश्वरका

सन्निधान न हो तो कदापि प्रकृतिसे महत्वादिकोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती जिस प्रकार अयस्कान्तमणि (चुम्बक) के पास रखनेसे लोहेमें गमनरूपी क्रिया उत्पन्न हो जाती है परन्तु वास्तवमें लोहा गमन क्रिया रहित है इसी भांति ईश्वर की समीपतासे प्रकृतिमें भी अन्यान्य कार्य्य करनेकी शक्ति उत्पन्न हो जाती है परन्तु वास्तवमें प्रकृति भी अनेक प्रकारकी क्रिया करनेमें असमर्थ है अतएव प्रकृतिकी क्रियाओंका हेतु होनेसे ईश्वरमें अधिष्ठातृत्व है ॥ ९६ ॥

विशेषकार्य्येष्वपि जीवानाम् ॥ ९७॥

नित्य और चैतन्य होनेके कारण कतिपय विशेष कार्य्य शरीरेन्द्रियादिकोंका अधिष्ठातृत्व जीवोंको भी है ॥ अब यहां पर यह सन्देह होता है कि उक्त प्रमाणों द्वारा ईश्वरकी सिद्धि हो परन्तु वेदको भी प्रमाण क्यों मानना चाहिये इसका उत्तर उत्तर यह है कि ॥ ९७ ॥

सिद्धरूपबोद्धृत्वाद्वाक्यार्थोपदेशः ॥ ९८ ॥

वेदके वाक्य और अर्थोंका उपदेश, ईश्वरके सिद्धरूप नित्य-मुक्तत्वादिका बोधक है अतएव उसका प्रमाण अवश्य मानना चाहिये क्योंकि यदि वेदोंका ईश्वरके साथ किसी प्रकार सम्बन्ध न होता तो उसके रूपका वर्णन वेद कदापि न कर सकते ॥ ९८ ॥

अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम्॥९९॥

अन्तःकरण भी चैतन्यके संयोगसे उज्ज्वलित (प्रकाशित) है अतएव सङ्कल्प विकल्पादि कार्य्योंका अधिष्ठातृत्व अन्तः-

करणको है जैसे अग्निसे तपाये हुये लोहेमें -यद्यपि दाहशक्ति अग्निसंयोगके कारण है तथापि अन्य पदार्थोंके दाह करनेको वह लोहशक्ति भी हेतु हो सक्ती है ॥ ९९ ॥

प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् ॥ १०० ॥

जो पदार्थ नहीं दीखता उसके ज्ञान हो जानेको अनुमान कहते हैं, जैसे अग्नि प्रत्यक्ष नहीं दीखती किन्तु धूमको देख कर उसका ज्ञान हो जाना इसीका नाम अनुमान है। यह अनुमान व्याप्ति और साहचर्य्य नियमके ज्ञान बिना नहीं होता, जैसे जबतक कोई पुरुष पाकशाला आदिमें धूम और अग्निकी व्याप्ति न समझ लेगा कि जहां २ धूम होता है वहां २ अग्नि अवश्य होती है तबतक धूमको देख कर अग्निका अनुमान कदापि नहीं कर सकता। यह अनुमान कितने प्रकारका है है इसका निर्णय आगे करेंगे किन्तु प्रथम शब्दप्रमाणका लक्षण करते हैं ॥ १०० ॥

आप्तोपदेशः शब्दः ॥ १०१ ॥

यह सूत्र सब शास्त्रोंमें ऐसा ही है जैसे चारों वेदोंमें गायत्री मन्त्र एकसाही है इसी भांति इस सूत्रको भी जानना चाहिये ॥ जो पुरुष धर्मनिष्ठ और अपने हृदयके भावको बाहर भी यथार्थ ही प्रकाशित करते हैं तथा शुद्ध आचरणवान् हैं उनका नाम आप्त है उनके उपदेशका नाम शब्द है वह लोग जो कहें उसको शब्द प्रमाण मानना चाहिये ॥ अब अगले सूत्रसे प्रमाण माननेकी आवश्यकताको प्रकट करते हैं ॥१०१॥

उभयसिद्धिः प्रमाणात् तदुपदेशः ॥ १०२ ॥

प्रमाणसे आत्म, अनात्म, सद्, असद् दोनों प्रकारकी सिद्धि होती है इसी कारण प्रमाणका उपदेश किया है ॥ १०२ ॥

सामान्यतोदृष्टादुभयसिद्धिः ॥ १०३ ॥

तीन प्रकारके अनुमान होते हैं पूर्ववत्, शेषवत्, और सामान्यतोदृष्ट, पूर्ववत् अनुमान उसे कहते हैं जैसे धूमको देखकर अग्निका अनुमान किया जाता है क्योंकि पहले पाकशालामें धूम और अग्नि दोनों देखेथे वैसेही अन्यत्र होंगे इस प्रकारका अनुमान पूर्ववत् कहाता है। जो विषय कभी प्रत्यक्ष नहीं किया उसका कारण द्वारा अनुमान करना शेषवत् अनुमान कहाता है, जैसे स्त्री और पुरुष दोनोंको नीरोग और हृष्ट पुष्ट देखकर इनके पुत्रोत्पत्ति होगी यह अनुमान करना वा मेघको देखकर जल बर्षेगा यह अनुमान करना शेषवत्का उदाहरण है। जिस जातीय विषयको प्रत्यक्ष कर लिया है उसके द्वारा समस्त जाति मात्रके कार्य्यका अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट कहाता है जैसे दो एक मनुष्यको देखकर यह बात निश्चय करली कि मनुष्यके सींग नहीं होते तो अन्य मनुष्य मात्रके सींग न होंगे यह सामान्यतोदृष्टका उदाहरण है। इसी भांति सामान्यतोदृष्ट अनुमानमें यह बातभी आसकती है कि जैसे बिना कारणके कार्य्यकी अनुत्पत्ति सामान्यतोदृष्ट है इससे यह निश्चय करलेना चाहिये कि जहां २ कार्य्य होगा वहां २ कारण भी अवश्य होगा यथा रूपका ज्ञान होनेमें नेत्र कारण है॥ जिस प्रकार इस सामान्य-

तोदृष्ट अनुमानसे लौकिक प्रत्यक्ष विषयोंकी सिद्धि होती है उसी भांति जो विषय प्रत्यक्ष नहीं है उनका भी साधन जातीयपक्ष बलसे करना चाहिये इसी प्रकार प्रकृति और पुरुषका भी सामान्यतोदृष्ट अनुमानसे ही बोध होता है क्योंकि सुख दुःख आदि कार्य्य महत्तत्त्वसे उत्पन्न हुए हैं, महत्तत्व भी कार्य्य है अतएव उसका भी कारण प्रकृति अवश्य माननी चाहिये, प्रकृति जड़ है अतएव वह बिना किसी चैतन्यकी शक्ति के कदापि चैतन्य कार्य्योंका कारण नहीं हो सकती इसीसे सामान्यतोदृष्टानुमानसे प्रकृति पुरुषकी सिद्धि स्पष्ट है और जो कोई २ टीकाकार इस सूत्रका यह अर्थ करते हैं कि "सामान्यतोदृष्ट अनुमानसे शेष दो प्रकारके अनुमानों की सिद्धि होजाती है" यह अर्थ सर्वथा अयुक्त है क्योंकि प्रथमतो सूत्रकारने कहींभी 'तीन प्रकारके अनुमान हैं' ऐसा नहीं कहा और न उसकी जुदी २ संज्ञा बांधी हैं तो सूत्रस्थ उभय शब्दसे यहां शेष दो अनुमानोंका बोध कदापि नहीं होसकता, दूसरा यह कि जो गोतमादि आचार्य्योंने पूर्ववत् और शेषवत् अनुमानोंके भेद मानें है उनकी कोई भी आवश्यकता प्रतीतही नहीं होती क्योंकि केवल सामान्यतोदृष्ट अनुमानही से समस्त कर्य्योंका ज्ञान अच्छे प्रकारसे होसकता है और जो २ उदाहरण पूर्ववत् और शेषवत्के दिये वह सामान्यतोदृष्टहीमें अन्तर्गत होसकते हैं यथा जहां २ धूम है वहां २ अग्नि अवश्य होती है यह बात सामान्यसे देखी गई है उसी भांति यदि पर्वत पर धूम है तो वहांभी अग्नि अवश्यही होगी अतएव पूर्ववत् अनुमान कहने की कोईभी आवश्यकता नहीं, एवं शेषवत्भी

है कि निरोग और हृष्ट पुष्ट स्त्री पुरुषोंके सन्तानोत्पत्ति लोकमें अनेक स्थलोंपर देखी गई है तो जो उक्त गुणयुक्त होगें उनकेभी अवश्य सन्तान उत्पन्न होगी यह बात सामान्य होनेके कारण इसका अनुमानभी सामान्यतो दृष्ट नामसे व्यवहार किया जासकता है, इसी प्रकार कारणसे कार्य्योत्पत्ति, कार्य्यमें कारणका रहना जो गुण कारणमें हो उसका कार्यमें भी रहना, इत्यादि सब बातें सामान्यतोदृष्ट हैं अतएव इस सूत्रमें उभय शब्दसे प्रकृति और पुरुषका ग्रहण करके एसा अर्थ करना चाहिये कि सामान्यतो दृष्ट अनुमानसे प्रकृति और पुरुषकी सिद्धि होती है॥१०३॥

चिदवसानो भोगः ॥ १०४ ॥

जो पदार्थ वृत्तियोंके साथ होकर पुरुषमें प्रतिविम्बित होता है उसको भोग कहते हैं इस सूत्रस्थ "चिदवसान" शब्दमें "चिदि अवसानः" (जीवमें जिसका अवसान हो) एसा समास करना चाहिये क्योंकि अन्य समास करनेसे जीवको परिणामित्व और अनित्यत्व दोष होगा इसमें यह शंका होती है कि जो अन्येन्द्रिय कृत स्पर्शादि कार्योंका अन्तःकरण चतुष्टय द्वारा पुरुषमें अवसान माना, वह प्रतिबिम्ब रूपसे माना, तो वास्तव में धर्माधर्मका फलभोग आत्मामें क्यों होता है ? इसका उत्तर यह है कि ॥ १०४ ॥

अकर्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत् ॥ १०५ ॥

जैसे किसानोंके किये हुए अन्नादिका फलभोग राजाको होता है इसी प्रकार अन्येन्द्रियकृत धर्माधर्मकाभी फलभोग आत्माको होसकता है इस से यह सिद्ध हुआ कि अन्तःकरण

चतुष्टय के किये हुए फल पुरुषको भी होते हैं परन्तु अपना वास्तविक सिद्धान्त इस अगलेमें सूत्र कहते हैं ॥ १०५ ॥

अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्तुः फलावगमः ॥ १०६ ॥

कर्म फलोंके भोग की सिद्धि अविवेकसे ही होती है उस में पुरुषको भोग मानने की कोई क्या आवश्यता है और अविवेक की विद्यमानतामें ही पुरुषका बन्धन माना जाता है विवेक होने पर मुक्ति होजाती है उस समय कर्म और फल दोनोंही नहीं रहते अतएव कर्म फलका कर्त्ता भोक्ता अविवेक हीको मानना चाहिये क्योंकि कर्मका फलभी कर्त्ताहीको होता है अतएव अविवेकही को फलभोगादिकोंका कारण मानना चाहिये ॥ १०६ ॥

नोभयं च तत्त्वाख्याने ॥ १०७ ॥

वास्तविक तत्वके विचारमें अविवेक और उसका फल दुःखादि दोनोंही नहीं है किन्तु वह सब पुरुषमें है अब यह सन्देह होता है कि यदि प्रकृति कोई पदार्थ है तो उसका प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता इससे (प्रत्यक्ष न होनेसे) विदित होता है कि प्रकृति कुछ नहीं इसका उत्तर यह है कि ॥ १०७ ॥

विषयोऽविषयोऽप्यतिदूरादेर्हानोपादानाभ्या मिन्द्रियस्य ॥ १०८ ॥

घ्रानेन्द्रियके सम्बन्ध और असम्बन्धसे जो प्रत्यक्षका विषय है वह भी अविषय अर्थात् परोक्ष होजाता है प्रत्यक्ष विषय

भी अविषय होजाता है इसमें हेतु यह है कि पदार्थका बहुत दूर होना उस पदार्थ ज्ञानकारक इन्द्रियमें किसी रोगादिका दोष होना पदार्थ सूक्ष्म होनेसे या बीचमें किसी दूसरी वस्तुका व्यवधान होनेसे इनहीं उपरोक्त हेतुओंसे जब प्रत्यक्ष विषयभी अविषय होजाता है तब जो पदार्थ न प्रत्यक्ष हो उस का अभाव कह देना ठीक नहीं है। अब रहा यह संदेह कि इन उपरोक्त हेतुओंमेंसे प्रकृतिकी प्रत्यक्षताका बाधकको न हेतु है तो इसका उत्तर यह है कि ॥ १०८ ॥

सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिः ॥ १०९ ॥

प्रकृतिकी प्रत्यक्षता सूक्ष्मताके कारण नहीं होती अर्थात् प्रकृति एसा सूक्ष्म पदार्थ है कि वह इन इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं होसकता किन्तु प्रकृतिका प्रत्यक्ष योगियों हीको होता है। अब यह संदेह होता है कि प्रकृतिकी अप्रत्यक्षतामें सूक्ष्मताको हेतु न कह कर यही क्यों न कहाजाय कि प्रकृतिका अभाव है इसीसे प्रत्यक्ष नहीं होता इसका समाधान यह है कि ॥ १०९ ॥

कार्यदर्शनात् तदुपलब्धेः ॥ ११० ॥

प्रकृतिके कार्यमहत्तत्त्वादि और तज्जन्य अन्तःकरण चतुष्टय आदि दिखाई देते हैं इससे प्रकृतिका होना सिद्ध होता है अभाव सिद्ध नहीं होता ॥ ११० ॥

वादिविप्रतिपत्तेस्तदसिद्धिरिति चेत् ॥ १११ ॥

यदि कोई वादी यह कहे कि कोई कोई तो जगत्का कारण ब्रह्मको बताते हैं,कोई कोई परमाणुओंको संसारका हेतु

कहते हैं, इस कथनसे प्रकृतिही जगत्का कारण है इसमें क्या प्रमाण है ? इससूत्र का आशय यह है कि बादियोंके विरोध होनेसे प्रकृतिमें कारणत्व न रहैगा यदि ऐसा मानाजाय तो इसका उत्तर यह है कि ॥ १११ ॥

तथाप्येकतरदृष्ट्याएकतरसिद्धेर्नापलापः ॥ ११२ ॥

जब कार्य्य और कारण इन दोनोंमेंसे एकको देखकर दूसरे का अनुमान होजाता है तब प्रकृतिको कारण कहनेमें कुछभी दोष नहीं क्योंकि जो जो कार्य्य प्रकृतिके संसारमें दिखाई पड़ते हैं वह अपने कारणरूप प्रकृतिका स्वतः अनुमान करादेंगे इसलिये प्रकृतिको जगतका कारण कहना उचितही है। अब प्रकृतिके कारणत्वमें औरभी युक्ति कहते हैं ॥ ११२ ॥

त्रिविधविरोधापत्तेश्च ॥ ११३ ॥

यदि प्रकृतिको कारण न कहैं तो संसारमें सुखदुःख मोह आदि पदार्थोंकी उत्पत्तिमें विरोध होगा क्योंकि ब्रह्म तो दुःखादिकोंसे पृथक् है और परमाणु जड़ होनेके कारण उससे यह पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। अब कार्य्यसे प्रथम कारण को सत्ता माननी चाहिये बिना कारणकी सत्ताके कार्य्य नहीं हो सकता है इसी बातको इस अगले सूत्रसेप्रकट करते हैं॥ ११३ ॥

नासदुत्पादो नृशृङ्गवत्* ॥ ११४ ॥

असद् पदार्थ किसीकी उत्पत्तिका हेतु नहीं हो सकता जैसे

---

*उत्पद्यन्ते अनेनेत्युत्पादःकरणे घञ् (जिससे कार्य्य उत्पन्न होता है उसको उत्पाद कहते हैं यहां करणमें घञ् प्रत्यय है)

मनुष्यके सींगोंका धनुष नहीं हो सकता क्योंकि जब मनुष्यके सींगही कोई पदार्थ नहीं तो उससे धनुष कब उत्पन्न हो सकता है ॥ ११४ ॥

उपादाननियमात् ॥ ११५ ॥

उपादानका नियमही ऐसा है कि जब सद् उपादान है तो उसका कार्य्यभी सत् होगा अन्यथा न हो सकेगा दूसरा उपादान नियम यह भी है कि मिट्टीसे घटही उत्पन्न होगा पट कदापि उत्पन्न नहीं हो सकेगा और जो असत् कार्यवादी यह कहते हैं कि "असतः सज्जायते" (असत्से सत्को उत्पत्ति होती है) अथवा विवर्तवादी जो यह कहता है कि 'एक सत्पदार्थसे सब कार्य्य उत्पन्न हुए हैं वह सब दृश्यमानमात्र और असत् है; और अभावोत्पत्तिवादी जो यह कहता है कि "सतोऽसज्जायते" अर्थात् सद् जो परमाणु आदि उनसे वह पदार्थ उत्पन्न होते हैं जो कि पहले नहीं थे इन पूर्वोक्तमतोंका उत्तर यह अगला सूत्र है ॥ ११५ ॥

सर्वत्रसर्वदासर्वासम्भवात् ॥ ११६ ॥

यह मतवाद जो कि उस सूत्रकी अवतरणिकामें कहा वह सब जगह सब कालमें सब प्रकारसे असम्भव है क्योंकि लोकमें ऐसे मतोंका साधक कोईभी दृष्टान्त नहीं मिलता इसलिये "सतःसज्जायते" सत्पदार्थसे सत् ही उत्पन्न होता है अर्थात् जो कार्य इस समय उत्पन्न होता है उसका कारण उत्पत्तिके पूर्व था ऐसा ही मानना चाहिये ॥ ११६ ॥

शक्तस्य शक्यकरणात् ॥ ११७ ॥

कारणका शक्तिमत्व होनाही कार्यकी उत्पत्तिका हेतु है क्योंकि जिस कारण द्रव्यमें जिस कार्यशक्तिका अभाव है उससे कार्य कदापि नहीं हो सकता सैकड़ों बुद्धिमान् मिलकर भी नीलसे पीतवर्णकी उत्पत्ति नहीं कर सकते, लाखों उपाय करने परभी बालूसे तैल नहीं निकल सकता, इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसे नील वा बालुकामें पीतरंग वा तैल उत्पन्न करने की शक्तिका अभाव है ; उसी भांति असत् कारणमें सत्की उत्पत्ति काभी अभाव है ॥ ११७ ॥

कारणभावाच्च ॥ ११८ ॥

कार्य्य सदैव कारणात्मक होता है कार्यकारणके प्रभेदमें भी यह कथन नहीं बन सकता कि कारण सत् हो और कार्य असत् हो। अब यहां पर सन्देह होता है कि यदि कार्य उत्पत्ति से भी पूर्व अपने कारण द्रव्यमें छिया हुआथा तो अमुक कार्य उत्पन्न हुआ यह कथन नहीं बन सकता और जब कार्य है ही तब उसकी उत्पत्तिका उपाय करना भी व्यर्थ है तो इसका उत्तर यह है कि यद्यपि कार्य अपने कारणमें छिपा रहता है तथापि उसका प्रकट कर देना ही सर्वोपयोगी होगा नही प्रयत्न करने का फल समझना चाहिये,क्योंकि यदि मृत्तिकासे घटको प्रकट न करें तो जल आदि भरना सम्पन्न वहीं हो कसता यदि यह कहा जावें कि कारणसे कार्योत्पत्ति पूर्वोक्त प्रकारानुसार माननेमें अपनेमें आप क्रिया होनेका विरोध होगा तो

इसका दृष्टान्त यह है कि जैसे कूर्म (कछुआ) अपने आप अङ्गों को सकोड लेता है और वाहरभी निकाल देता है तो उसमें न तो क्रिया दोष ही कहा जा सकता है और न कार्यकारणके अभावका झगड़ा रह सकता है अब रहा यह कि एक कारणसे एक ही कार्यकी उत्पत्ति होनी चाहिये, यह भी ठीक नहीं हो सकता क्योंकि एक ही अग्नि जैसे जलानेकी भी शक्ति रखती है और अन्न आदि पकानेकी शक्ति भी रखता है यदि यह शङ्काकी जावेकि यदि पटका कारण तन्तु हैं तो एक तन्तुसे पठकी उत्पत्तिक्यों नहीं होती तो इसका उत्तर यह है कि जैसे एक कहार पालकी नहीं उठा सकता किन्तु जलका भरा घट ही उठा सकता है और बहुतसे कहार पालको उठा सकते हैं इसी भांति एक पटसे तन्तु उत्पन्न नहीं हो सकता किन्तु बहुत से तन्तुओंसे पट उत्पन्न होता है अतएव इससे यह सिद्ध हुआ कि कार्यका भाव कारणमें रहता है। अब यहां पर यह शङ्का होती है कि जिस बातको इतने हेरफेरसे कहा उसको योंही क्यों न कह दिया कि कार्य पहले नहीं था किन्तु उपायान्तरोंसे कारणही से उत्पन्न हुआ अतएव असत्से सद् की उत्पत्ति ही ठीक है इसका उत्तर यह है कि ॥ ११८ ॥

न भावे भावयोगश्चेत् ॥ ११९ ॥

जो पदार्थ भाव (सत्) हैं उनहीं में भाव योग अर्थात् सद् पदार्थोंकी उत्पत्तिका योग हो सकता है "अन्यथा चेन्न" और प्रकारसे कदापि नहीं होता। सत्से असत् वा असत्से सत् ये

विपरीत भाव नहीं हो सकते। अब इस विषयमें सांख्यकार अपना मत प्रकाशित करते हैं ॥ ११९ ॥ *

नाभिव्यक्तिनिबन्धनौ व्यवहाराव्यवहारौ ॥ १२० ॥

अब यहां परमाशय होता है कि यद्यपि उत्पत्तिसे पूर्व सत्-कार्य्यकी किसी प्रकार उत्पत्ति हो परन्तु अबकार्य्यसत्ता अनादि है तो उसका नाश क्यों हो सके; इसका उत्तर यह है कि कार्यकी उत्पत्तिका व्यवहार और अव्यवहार अभिव्यक्ति निमित्तक है अर्थात् अभिव्यक्तिके भावसे कार्यकी उत्पत्ति होती है अभिव्यक्तिके अभावसे उत्पत्तिका अभाव है जो पूर्व यह शङ्का की थी कि यदि कारणमें कार्य रहता है तो अमुक कार्य उत्पन्न हुआ यह कहना नहीं बन सकता उसीके उत्तरमें यह सूत्र है कि अभिव्यज्यमान कार्यकी उत्पत्तिका व्यवहार और अव्य-वहार अभिव्यक्ति निमित्तक है पूर्व जो कार्य असत् (नहीं) था उसकी अब उत्पत्ति हुई यह कथन ठीक नहीं है ॥१२०॥

नाशः कारणलयः ॥ १२१ ॥

लीङ् श्लेषणे धातुसे लय शब्द बनता है अति सूक्ष्मताके साथ कार्यका कारणमें मिल जाना इसीका नाम नाश है कार्य

---

* सांख्यके मतानुसार कार्य्य दो प्रकारके हैं एक तो अभिव्यज्य-मान दूसरा उत्पद्यमान, अभिव्यज्यमान उसे कहते हैं जैसे धानोंमें से चांवलो को निकालना गौसे दूध इत्यादि और उत्पद्य-मान वह है जैसे बीजसे अङ्कुरकी उत्पत्ति आहार करनेसे शारीरिक धातुओंकी उत्पत्ति इत्यादि।

को अतीत अवस्था अर्थात् जो अवस्था कार्यकी उत्पत्तिसे पूर्व थी उसीको धारण कर लेना और जो नाश भविष्यत्में होने वाला है उसीका नाम प्रागभाव नामक नाश है कोई२ यह कहते हैं कि जो वस्तु नाश हो जाती है उसकी पुनरुत्पत्ति नहीं होती परन्तु यह कथन सर्वथा अयुक्त है क्योंकि इस कथन से प्रत्यभिज्ञामें दोष होगा अर्थात् जिस पदार्थको दो वर्ष पूर्व देखाथा उसीको इस समय देखनेसे यह ज्ञान होता है कि जो पदार्थ पूर्व देखाथा उसोको इस समय देखताहूं इस ज्ञानमें यह दोष होगा कि जो ज्ञान पूर्व हुआ था वह इतने दिन तक नष्ट रहा और फिर भी समयानुसार उत्पन्न हो गया यदि नष्ट हुए कार्य्यकी पुनर्वार अनुत्पत्तिही ठीक होती तो इसमें भी अनुत्पत्तिका लक्षण पाया जाता अतएव यही कहना ठीक है कि नाशको प्राप्तकार्य्य फिर भी उत्पन्न हो सकता है अब यह सन्देह होता है कि यदि पूर्वोक्त पक्षही ठीक है तो अपने कारणमें कार्य्यका नाश होता क्यों नहीं दीखता, जैसे तन्तु कपाससे उत्पन्न होते हैं परन्तु नाशके समयमें वह मट्टीमें मिल जाते हैं "इसका उत्तर यह है कि कार्य्यका कारणमें लय हो जाना विवेकी पुरुषोंको दीखता है और अविवेकियोंको नहीं दीखता, जैसे तन्तु मृत्तिकारूप हो जाते हैं और मृत्तिका कपासके वृक्षरूप हो जाती है और वह वृक्ष फूल फल कपास आदि रूपसे परिणामको प्राप्त होता है और जब कार्य्यका नाम और तदाकार रूपान्तर लोकमें विद्यमान है तब नाशभी कहना नहीं बन सकता यही सिद्धान्त महाभाष्यकार महर्षि पातञ्जलिजीका भी है कि आकृति नित्य है अब यहां पर यह

सन्देह होता है कि अभिव्यक्ति कार्य्यकी उत्पत्तिके पूर्वभी थी, या नहीं थी यदि थी, तो कारणके यत्नसे पूर्व अभिव्यक्तिको स्वकार्य्यजनकताका दोष होगा और उत्पत्तिके लिये जो कारण द्वारा यत्न किया जाता है वह व्यर्थ होगा, यदि कार्य्यकी उत्पत्तिसे पूर्व अभिव्यक्ति नहीं थी तो सत्कार्य्य नाममें हानि होगी, क्योंकि जब यह पूर्व कह चुके हैं कि जो कार्य्य पूर्व था उसीको इस समय उत्पत्ति होती है किन्तु असत्की उत्पत्ति नहीं होती तो अब अभिव्यक्तिका पूर्वमें अभाव कहने से दोष होगा और यदि यह कहा जाय कि अभिव्यक्ति तो पूर्वभी थी किन्तु एक अभिव्यक्ति से दूसरी अभिव्यक्ति कारण द्वारा होती जाती है उसी लिये कारण व्यापार है; तो अनवस्था दोष होगा क्योंकि एकसे दूसरी, दूसरीसे तीसरी, इसी प्रकार कहते जाओ कहीं ठिकाना न लगेगा, अतएव यह अनवस्था दोष होगया इन पूर्वोक्त दोषोंका उत्तर यह है कि प्रथमतो कारण व्यापारसे सब कार्य्योंकी उत्पत्ति होती है इस नियमानुसार पूर्वोक्त शंकाही नहीं होसकती, दूसरे यदि यहभी मानलिया जावेकि अभिव्यक्ति पूर्व नहीं थी तोभी कारण व्यापार द्वारा उसकी सत्ता प्रकटकरने कि लिये सदैव आवश्यक है तब कोई दोष नहीं हो सक्ता तीसरे यह कि जब कार्य्यकी अनागतअवस्थामें (जब तक कार्य्य उत्पन्न नहीं हुआ) सत्कार्य बादकी कोई हानि नहीं समझी जाती तब दोषही क्यों होसकता है ? क्योंकि घट जब तक उत्पन्न नहीं हुआ उससे पहलेभी सत्कार्य्यबादी मृत्तिकामें घट मानते हैं इसी भांति अभिव्यक्ति कोभी जानना चाहिये और यदि कोई यह सन्देह करे कि कार्य्यका प्रागभाव (पहले

न होना) ही नहीं मानते तो 'घट पूर्व नहीं था अब उत्पन्न हुआ' यह कथन नहीं बन सकता इसका उत्तर यह है कि कार्य्य की अवस्थाओंकाही भाव, अभाव कह सकते हैं न कि कार्य्य का, और जो अनवस्था दोष दिया उसका उत्तर यह है कि ॥ १२१ ॥

पारम्पर्यतोऽन्वेषणा बीजाङ्कुरवत् ॥ १२२ ॥

बीज और अङ्कुर (वृक्ष) के समान अर्थात् जब विचार करते हैं कि बीज प्रथम था, या वृक्ष प्रथम था, इसमें परम्परा मानी जाती है इसी भांति अभिव्यक्ति भी समझनी चाहिये भेद केवल इतनाही है कि उसमें क्रमिक परम्परा (कौन पहले था) दोष है और इसमें एककालिक (एक ही समयमें एकका दूसरेसे उत्पन्न होना) यह दोष होगा परन्तु यह दोष इस कारण गिना जाता है कि पातञ्जल भाष्यमें भी व्यासजीने कार्य्योंको स्वरूपसे नित्य और अवस्थाओंसे विनाशी कहा है वहां अनवस्था दोषको प्रामाणिक कहा है, यह बीजांकुरका दृष्टान्त केवल लौकिक है वास्तवमें यहां जन्म और कर्म्मका दृष्टान्त दिया जाता तो ठीक होता 'यथा जन्मसे कर्म होता है वा कर्मसे जन्म' क्योंकि बीजाङ्कुरके झगड़ेमें कोई कोई आदि सर्गमें बिना वृक्षही बीजकी उत्पत्ति मानते हैं। वास्तवमें अनवस्था कोई वस्तु नहीं है इसे कहते हैं ॥ १२२ ॥

उत्पत्तिवद्वाऽदोषः ॥ १२३ ॥

जैसे घटकी उत्पत्तिका स्वरूपही वैशेषिकादि असत्कार्य्य-वादी लाघव (कमी) के कारण स्वीकार करते हैं अर्थात् यह

उत्पत्ति किससे उत्पन्न हुई ऐसा झगड़ा न करके केवल एकही उत्पत्तिको स्वीकार करते हैं इसी भांति अभिव्यक्तिकी उत्पत्ति किससे हुई यह विवाद न करके केवल अभिव्यक्तिकोही स्वीकार करना चाहिये, सत्काार्य्यबादी और असत्कार्य्यबादी इनमें इतना ही अन्तर है कि असत्कार्य्यबादी कार्य्य उत्पत्तिकी पूर्वदशाको प्रागभाव और कार्य्यके कारणमें लय होजाने को ध्वंस कहते हैं और इन दोनों अवस्थाओंमें कार्यका अभाव मानते हैं। एवं सत्कार्य्यबादी उक्त दोनों अवस्थाओंको अनागत और अतीत कहते हैं तथा उन अवस्थाओंमें कार्य्यका भाव (होना) स्वीकार करते हैं॥ कार्य्यसे कारणका अनुमान कर लेना चाहिये यहां पर सन्देह होता है कि किस किस को कार्य कह सकते हैं अतएव कार्यकी परीक्षा के लिये यह सूत्र लिखते हैं कि॥ १२३॥

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्॥ १२४॥

हेतुमत् (कारणवाला) अनित्य (जो सदैव एकसा न रहे) अव्यापी (एक देशी) सक्रिय (जिसमें क्रियाकी अपेक्षा रहे) अनेक (जिसके जुदे जुदे भेद प्रतीत हों) आश्रित (कारणके आधीन) उसे लिङ्ग अर्थात् कार्यके पहचाननेका चिह्न कहना चाहिये इस सूत्रका अर्थ महादेव वृत्तिकारने ऐसा किया है कि "हेतुमत्वादि जिसमें पाये जायँ वह प्रधानके लिङ्ग हैं" यह अर्थ इस कारण अयुक्त है कि प्रथमतो इस सूत्रमें वा पूर्वसूत्रमें प्रधानका नाम नहीं है दूसरे सांख्यकारने प्रधान शब्दको रूढ़ी

नहीं माना अतएव इसको पुरुष वाचक भी नहीं कहसकते, किन्तु प्रकृति वाचक है, तीसरे यदि उनके तात्पर्य्यानुसार यह लिङ्ग पुरुषके ही मानलेवें तो भी ठीक नहीं होसकता क्योंकि सांख्यकारके मतमें कार्य्यमात्रकी उत्पत्ति प्रकृतिसे है एवं प्रकृति और पुरुषका भेदभी माना है एवं परस्पर अनपेक्षाभी कपिलाचार्यका सिद्धान्त है तो प्रकृतिहीसे पुरुषका अनुमान नहीं हो सकता हेतुमत्वादि विशेषण देनेसे कार्य्यकारणका भेद प्रतीत होता है अतएव उस भेदकी सिद्धिमें प्रमाण देते हैं ॥ १२४ ॥

आञ्जस्यादभेदतो वा गुणसामान्यादेस्तत्सिद्धिः प्रधानव्यपदेशाद्वा ॥ १२५ ॥

आंजस्यसे (प्रत्यक्षसे) वा "कारणके सामान्य गुण कार्य्यमें पायेजाते हैं विशेष गुणोंमें भेद रहता है" इससे और * प्रधान व्यपदेशसे अर्थात् 'यह कारण' है 'यह कार्य्य है' इस लौकिक व्यवहारसे कार्य्यकारणके भेदकी सिद्धि होती है ॥ १२५ ॥

त्रिगुणाचेतनत्वादि द्वयोः ॥ १२६ ॥

कार्यकारणका भेद कहकर कार्यकारणका साधर्म्य (बराबरी) कहते हैं कि सत्व, रज, तम, तीनों गुण और अचेतनत्वादि

---

* प्रधीयते यस्मिन्निति प्रधानम्—अर्थात् जिसमें कार्य्य रहे वह प्रधान है और यह प्रसिद्ध है कि कारणमें ही कार्य्य रहता है तो कारणका नामही प्रधान है वह प्रधान प्रकृति ही है।

धर्म्म दोनोंके समान ही है आदि शब्दसे परिणामित्वादिका ग्रहण होता है ॥ १२६ ॥

प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम् ॥ १२७ ॥

अब कार्यकारणका परस्पर वैधर्म्य कहते हैं सत्व, रज, तम, इन गुणोंका सुख, दुःख, मोह इनमें अन्योऽन्य वैधर्म्य (एकही कारणसे भांतिभांतिके कार्य्यकी उत्पत्ति होना) दिखाई पड़ता इस सूत्रमें आदि शब्दसे जिनका ग्रहण होता है उनका वर्णन पञ्चशिखाचार्यने यों किया है कि सत्वगुणसे प्रीति, तितिक्षा, सन्तोष आदि सुखात्मक अनन्त अनेक धर्म्मवाले कार्य उत्पन्न होते हैं। एवं रजोगुणसे अप्रीति शोकआदि दुःखात्मक अनन्त अनेक धर्म्मवाले कार्य उत्पन्न होते हैं। एवं तमसे बिषाद निद्रा आदि मोहात्मक अनन्त अनेक धर्म्मवाले कार्य उत्पन्न होते हैं घटरूप कार्यमें मृत्तिकासे केवल रूपमात्रका वैधर्म्य है ॥१२७॥

लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानाम् ॥ १२८ ॥

लघुत्वादि (छुटाई आदिसे) धर्मोंसे सत्वादि गुणोंका साधर्म्य वैधर्म्य है यथा लघुत्वके साथ सर्वसत्व व्यक्तियोंका (सतोगुणके पदार्थोंका) साध्यर्म है, रज और तमका वैधर्म्य है। एवं चञ्चल-त्वादिके साथ रजोव्यक्तियोंका (रजोगुणके पदार्थोंका) साधर्म्म और सत्व तमका वैधर्म्म है। एवं गुरुत्वादिके साथ तमोव्यक्ति-योंका (तमोगुणके पदार्थोंका) साधर्म्य और सत्व रजसे वैधर्म्य है अब यह सन्देह होता है कि यद्यपि महदादि स्वरूपसे सिद्ध हैं तथापि प्रत्यक्षसे उनकी उत्पत्ति नहीं दीखती है अतएव

महदादिकोंके कार्य होनेमें कोई भी प्रमाण नहीं, इसका उत्तर यह है कि ॥ १२८ ॥

उभयान्यत्वात् कार्यत्वं महदादेर्घटादिवत् ॥ १२९ ॥

प्रकृति और पुरुष इन दोनोंसे महदादिक अन्य हैं अतएव उन्हें कार्य मानना चाहिये जैसे घट मृत्तिकासे पृथक् है अतएव कार्य्य है क्योंकि मृत्तिका कहनेसे न तो घटका बोध होता है और न घट कहनेसे मृत्तिकाका बोध होता है इसी भांति प्रकृति और पुरुष कहनेसे महदादिकोंका बोध नहीं होता अतएव महदादिकों कों प्रकृति और पुरुषसे भिन्न कार्य मानना चाहिये क्योंकि प्रकृति और पुरुष कारण हैं कार्य नहीं ॥ १२९ ॥

परिमाणात् ॥ १३० ॥

प्रकृति, और पुरुष परिमित भावसे रहते हैं कभी घटते बढ़ते नहीं अतएव उन्हें कार्य नहीं कह सकते क्योंकि ॥ १३०॥

समन्वयात् ॥ १३१ ॥

बुद्धि आदि तत्व जो कि महदादिकोंका अवान्तर भेद हैं सो अन्नादिके समन्वयसे (मिलनेसे) बढ़ते रहते हैं और उपवास करनेसे क्षीण होते हैं इस पूर्वोक्त समन्वयसे भी महदादिकों का कार्यत्व विदित होता है क्योंकि जो नित्य पदार्थ होता है

वह निरवयव होता है अतएव उसका घटना, वा बढ़ना, नहीं हो सकता * ॥ १३१ ॥

शक्तितश्चेति ॥ १३२ ॥

महदादिक पुरुषके † कारण हैं इसीसे महादिकोंको कार्य्यत्व है क्योंकि इनके बिना पुरुष कुछभी नहीं कर सकता जैसे बिना नेत्रके पुरुष देख नहीं सकता, और बिना पुरुषके नेत्रमें देखनेकी शक्ति नहीं (क्योंकि वह जड़ है) अतएव पुरुष दर्शन-रूप क्रियाको बिना नेत्ररूपी करणके नहीं कर सकता इसीसे चक्षुआदिकोंको कार्य्यत्व है। इस सूत्रमें इतिशब्दसे यह जानना चाहिये कि प्रत्येक कार्य्यकी सिद्धिमें इतने ही प्रमाण होते हैं ॥ १३२ ॥

तद्धाने प्रकृतिः पुरुषो वा ॥ १३३ ॥

जो महदादिको कार्य्य न कहें तो महत्तत्वको प्रकृति वा पुरुष दोनोंसे एक जरूर माननाही पड़ेगा क्योंकि जो महदादि परिणामी हों तो प्रकृति, और महदादि अपरिणामी हों तो पुरुष,

---

* इसका आशय यह हुआ कि घटना बढना आदि कार्य्यमें होसकता है कारणमें नहीं होसकता बुद्धि आदिभी महत् आदिके ही भेद हैं वह अन्नके मिलनेसे बढ़ते हैं और न मिलनेसे घटते हैं इसीसे महदादिकोंका कार्य्यत्व सिद्ध होता है।

† करण शब्दका अर्थ "सहारा" है इसकी ठेठभाषा सिवाय इसके और कोई नहीं मिलती।

मानना पड़ेगा और जो महदादिकोंको नित्य तथा इन दोनोंसे भिन्न दूसरा पदार्थ माना जाय तो ॥ १३३ ॥

तयोरन्यत्वे तुच्छत्वम् ॥ १६४ ॥

प्रकृति और पुरुषसे महदादिको अन्य माने तो तुच्छत्व (अवस्तुत्व) होता है क्योंकि संसारमें प्रकृति और पुरुषसे अन्य कोई वस्तु नहीं है अतएव इसको प्रकृतिका कार्य्य मानना चाहिये यदि अन्य माने तो इसके कारण भी अन्य ही मानने पड़ेंगे इस प्रकार महदादिकोंको कार्य्यत्व सिद्ध करके उनहीके द्वारा प्रकृतिका अनुमान सिद्ध करते हैं ॥ १३४ ॥

कार्य्यात् कारणानुमानं तत्साहित्यात् ॥ १३५ ॥

कार्य्यसे कारणका अनुमान होता है क्योंकि जहां जहां कार्य्य होता है वहां कारण भी होता है इस अनुमानको गौतम मुनिने "सामान्यतोदृष्ट" कहा है और महदादिकभी अपने कार्य्योंके उपादान कारण हैं जैसे पाषाण रूप कार्य्य स्वगतप्रतिमादि का उपादान कारण है इस कथनसे महदादिकोकोंके कार्य्यत्वमें कुछ हानि नहीं है ॥ १३५ ॥

अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिङ्गात् ॥ १३६ ॥

महत्तत्वादिकोंकी अपेक्षा भी मूल कारण प्रकृति अव्यक्त (सूक्ष्म) है क्योंकि महत्तत्वके कार्य्य सुखादिकोंका प्रत्यक्ष होता है और सूक्ष्मताके कारण प्रकृतिका कोई गुण प्रत्यक्ष नहीं होता, यदि यह कहो कि प्रकृति परम सूक्ष्म है तो है ही नहीं तब इसका उत्तर यह है कि ॥ १३६ ॥

तत्कार्य्यतस्तत्सिद्धेर्नापलापः ॥ १३७ ॥

प्रकृतिके कार्य्योंसे प्रकृतिकी सिद्धि है इससे प्रकृतिका अभाव नहीं कहा जा सकता क्योंकि उस के कार्य महदादिक उसे सिद्ध करते हैं। यहां तक प्रकृतिका अनुमान हो चुका अब अध्याय समाप्ति पर्य्यन्त पुरुषका अनुमान कहेंगे ॥ १३७ ॥

सामान्येन विवादाभावाद्धर्मवन्न साधनम् ॥ १३८ ॥

जिस वस्तुमें सामान्यसे ही विवाद नहीं है उसकी सिद्धिमें साधनोंकी कोई अपेक्षा नहीं जैसे प्रकृतिमें सामान्यसे ही विवाद है उसकी सिद्धिके लिये साधनोंकी अपेक्षा है, वैसे पुरुषमें नहीं क्योंकि चेतनके बिना संसारमें अन्धेरा प्रतीत होगा यहां तक कि बौद्धभी सामान्यतः कर्मभोक्ता अहंपदार्थ को पुरुष मानते हैं तब उसमें विवादही क्या है ? धर्मवत् (धर्म की तरह) जैसे धर्मको सभी, बौद्ध, नास्तिक आदि मानते हैं वैसे ही एक चेतनको सभी स्वीकार करते हैं ॥ १३८ ॥

शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान् ॥ १३९ ॥

शरीरसे लेकर प्रकृति तक जो २४ पदार्थ हैं उनसे पुरुष पृथक् है। अब पुरुष शरीरादिसे भिन्न है इसमें हेतु कहते हैं कि ॥ १३९ ॥

संहतपरार्थत्वात् ॥ १४० ॥

प्रकृत्यादिक शय्या आदिके समान पदार्थ दूसरेके वास्ते होते हैं अर्थात् * संहत देहादिसे भिन्न का नाम पुरुष है

---

* इसका आशय यह है कि प्रकृति आदि संहत जितने पदार्थ

यह हेतु पूर्व भी कह चुके परन्तु फिर यहां कहना हेतुओंकी संख्या वढ़ानेके वास्ते है ॥ १४० ॥

त्रिगुणादिविपर्य्ययात् ॥ १४१ ॥

त्रिगुण अर्थात् सुख, दुःख, मोह, आदि शब्दसे अविवेकादि इनसे विपरीत होनेसे पुरुष प्रकृति नहीं हो सकता अर्थात् वह प्रकृतिसे भिन्न है ॥ १४१ ॥

अधिष्ठानाच्चेति ॥ १४२ ॥

पुरुष अधिष्ठान (अधिष्ठाता होनेसे) प्रकृतिसे अतिरिक्त (जुदा) ही है। अधिष्ठान (आधार) अधिष्ठेय (आधेय) के संयोगसे मालूम होता है कि दोके बिना संयोग हो नहीं सकता इससे सिद्ध हुआ कि पुरुष प्रकृतिसे पृथक् वस्तु है * ॥ १४२ ॥

भोक्तृभावात् ॥ १४३ ॥

यदि कहो कि शरीरादिक ही भोक्ता हैं तो कर्त्ता और कर्मका विरोध होता है क्योंकि आपही अपनेको भोग नहीं सकता अर्थात् शरीरादिक प्रकृतिके धर्म हैं और स्रक् चन्दनादिक भी प्रकृति हीके धर्म हैं इससे आपही आपका भोग नहीं कर सकता है ॥ १४३ ॥

है वह किसी दूसरे के लिये हैं और जो वह दूसरा है उसीका नाम पुरुष है।

* आशय यह कि जब प्रकृतिको आधार (रखनेकी जगह) कहते हैं तब उस में आधेय (रखनेकी चीज) भी जरूर होनी चाहिये वह रखनेकी चीज ही पुरुष है।

कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ १४४ ॥

यदि शरीरादिको ही को भोक्तामाना जायगा तो दूसरा दोष यह होगा कि मोक्षके उपाय करनेमें किसीकी प्रवृत्ति न होगी क्योंकि शरीरादिके विनाश होनेसे स्वत एव मोक्ष होना सम्भव है, तीसरा दोष यह होगा कि सुख दुःखादिक प्रकृतिके स्वाभाविक धर्म हैं और स्वभाव किसीका नष्ट नहीं हो सकता अतएव कैवल्य (मोक्ष) असम्भव है इससे पुरुषको ही भोक्ता मानना ठीक है। उक्त प्रमाणोंसे पुरुषको चतुर्विंशति तत्त्वोंसे अतिरिक्त (भिन्न) कहचुके अब पुरुष क्या वस्तु है यह निरूपण करते हैं ॥ १४४ ॥

जड़प्रकाशायोगात् प्रकाशः ॥ १४५ ॥

अब यहां वैशेषिक कहते हैं कि अप्रकाश स्वरूप जड़ आत्माको मनके संयोगसे प्रकाश होता है इनका कथन सर्वथा अयुक्त है क्योंकि लोकमें जड़ (प्रकाश रहित) काष्ठलोष्ठादिक हैं उनमें प्रकाश कदापि नहीं देखा जाता है अतएव सूर्य्यादिवत् प्रकाशरूप ही पुरुष जानना चाहिये ॥ १४५ ॥

निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा ॥ १४६ ॥

यहां पर यह शंका होती है कि प्रकाश स्वरूप आत्मामें धर्मधर्मी भाव है या नहीं है (अर्थात् पुरुष प्रकाश धर्मवाला और प्रकाश कुछ अन्य) इसका उत्तर यह है कि पुरुष निर्गुण होनेसे चिद् धर्मवाला नहीं हो सकता क्योंकि गुण प्रकृतिके धर्म हैं यहां पर यह शंका होती है कि "मैं जानता हूं" इत्यादिक

अनुभवोंसे पुरुषमें धर्मधर्मी भाव कल्पना किया जाता है इस उत्तर यह है कि ॥ १४६ ॥

श्रुत्या सिद्धस्य नापलापस्तत्प्रत्यक्षबाधात् ॥ १४७॥

यद्यपि उक्त अनुभवोंसे पुरुषोंमें धर्मी भाव कल्पना किया जाता है परन्तु वह न केवल युक्तियोंसे ही विरुद्ध है किन्तु श्रुतियोंसे भी विरुद्ध है क्योंकि श्रुतियोंमें भी "साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च" इत्यादि विशेषणोंसे पुरुषको निर्गुण ही प्रतिपादन किया है एवं उस अनुभव प्रत्यक्षमें दोषभी हो सकता है क्योंकि वह अनुभव किसको होगा यदि पुरुषको होगा तो ज्ञानको पुरुषसे पृथक् वस्तु मानना पड़ेगा इससे पुरुष निर्गुण है * रहा यह सन्देह कि जो पुरुष प्रकाश स्वरूप ही है तो सुषुप्ति आदि अवस्थाओंकी कल्पना नहीं होसकती क्योंकि उन अवस्थाओंमें प्रकाश स्वरूपता नहीं रहती है उसका उत्तर यह है कि ॥ १४७ ॥

सुषुप्त्याद्यसाक्षित्वम् ॥ १४८ ॥

पुरुष सुसुप्तिका आद्य साक्षी है (अर्थात् जिन बुद्धिकी वृत्तिओंका नाम सुषुप्ति है वह बुद्धि पुरुषाश्रया है अतएव उस सुषुप्तिका आदि साक्षी पुरुष है और सुषुप्ति बुद्धि का धर्म है) अब यह सन्देह होता है कि यदि पुरुष

---

* यहां पर भी महर्षि कपिलने कुछ अंशसे पुरुष शब्दसे ईश्वर का तात्पर्य निकाला है और कुछ अंशमें जीवसे तात्पर्य रखा है, अतएव निर्गुण आदिसे ईश्वरका सम्बन्ध समझना चाहिये।

प्रकाश स्वरूप है और बुद्धिवृत्तिओंका पुरुष, आश्रय है तो वह पुरुष एक है वा अनेक, इसका उत्तर यह है कि ॥१४८॥

जन्मादिव्यवस्थात: पुरुषबहुत्वम् ॥ १४९ ॥

लोकमें जन्मादि व्यवस्था अनेक दिखाई पड़ती हैं इसहीसे सिद्ध होता है कि पुरुष बहुत हैं क्योंकि यदि सब बुद्धिवृत्तिओंका आकार एक ही पुरुष होता तो "वह घट है इस घटको मैं जानता हूं" इस प्रकारका अनुभव जिस क्षणमें एक बुद्धिको होता है उसी क्षणमें सब बुद्धिओंको होना चाहिये क्योंकि सबका वह आश्रयी एकही है परन्तु ऐसा लोकमें नहीं दिखाई पड़ता है अतएव पुरुष अनेक हैं। जो कोई कोई टीकाकार इस सूत्रका यह अर्थ करते हैं कि "जन्मादि व्यवस्था ही से पुरुष बहुतसे प्रतीत होते हैं वस्तुत: नहीं" उनका कथन तो इस कारण अयुक्त है कि "पुण्यवान् स्वर्गे जायते" "पापी नरके" "अज्ञो बध्यते ज्ञानी मुच्यते" (पुण्यात्मा स्वर्गमें उत्पन्न होता है ज्ञानी मुक्त होता है) इत्यादिक श्रुतियें बहुत्वके प्रतिपादन करती हैं उनसे विरुद्ध होगा। अब रहा यह सन्देह कि एकही पुरुषकी अनेक जन्मादि व्यवस्था हो सकतीं हैं वा एक पुरुषकी एकही जन्मादि व्यवस्था है? इसका उत्तर यह है कि ॥ १४९ ॥

उपाधिभेदेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभि: ॥ १५० ॥

उपाधि भेद (शरीरादि) होने पर भी एक पुरुषका अनेक जन्ममें अनेक शरीरोंसे योग है घटादिकोंके साथ आकाशके समान इस सूत्रका आशय यह है कि एक पुरुष जन्मान्तरमें

अनेक उपाधि धारण करके अनेक योगवाला कहा जा सकता है जैसे एक ही आकाश घटकी उपाधि होनेसे घटाकाश और मठकी उपाधि होनेसे मठाकाश कहाता है परन्तु वह उपाधि आकाशको एक ही देश कालमें नहीं हो सकती अर्थात् जितने स्थानके आकाशका नाम मठाकाश है उसी क्षणमें उस आकाशका नाम घटाकाश नहीं हो सकता है किन्तु मठकी उपाधि नष्ट करके दूसरे कालमें घट स्थापित होने पर घटाकाश कहा जा सकता है इसी भांति पुरुषभी एक ही देश कालमें अनेक उपाधियें (शरीरादि) को धारण नहीं करता किन्तु अनेक कालमें अनेक उपाधि धारण करके नाना योगवाला कहाता है अर्थात् एक ही जीव कभी मनुष्य कभी पशु आदि नाना शरीर धारण करके एक ही रहता है एवं अनेक जीव अनेक उपाधिओंको धारण करते हैं यह ज्ञानिओंको ही प्रतीत होता है ॥ १५० ॥

उपाधिर्भिद्यते न तु तद्वान् ॥१५१॥

(उसी पूर्वोक्त सूत्रकी पुष्टिमें यह सूत्र है) बहुतसे रूप उपाधिओंके होते हैं और उपाधि ही नानारूपोंसे कही जाती है किन्तु उपाधिवाला पुरुष एक ही है यद्यपि अनेक नवीन वेदान्ती यह कहते हैं कि एक ही आत्माका कार्य्यकारण उपाधि में प्रतिबिम्ब पड़नेसे जीव ईश्वरका भेद है और प्रतिबिम्ब आपसमें जुदे होनेसे जन्मादि व्यवस्था भी हो सकती है यह उनका सिद्धान्त इस कारण अयुक्त है कि इसमें भेदाभेद कल्पना नहीं हो सकती क्योंकि बिम्ब (झांईवाला) प्रतिबिम्ब

(भाई) इन दोनोंको बिना पृथक्ता स्वीकार किये बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव हो ही नहीं सकता और जीवको ब्रह्म प्रतिबिम्ब मानते हैं तो प्रतिबिम्ब जड़ होता है अतएव पुरुषको भोक्ता, बद्ध, मुक्त, कभी न कह सकेंगे और जीव ब्रह्मकी एकताके सिद्धान्तमें हानि होगी अतएव सांख्यमतानुसार जीव ब्रह्मको एक मानना नहीं बन सकता एकही ब्रह्म जीव रूप हो गया है इस पक्षका खण्डनकारक यह सूत्र है कि ॥ १५१ ॥

एवमेकत्वेन परिवर्त्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः ॥१५२॥

यदि ब्रह्म एक ही सम्पूर्ण उपाधिओंमें अनुगत और जीव रूप हो गया है तो उसमें विरुद्ध धर्म दुःख बन्धनादिका अध्यास न हो यह नहीं हो सकता किन्तु अध्यास अवश्य होगा, अतएव जीव ब्रह्मको एक मानना युक्त नहीं इस सूत्रका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि अनेक उपाधियोंमें एकत्वसे वर्त्तमान जो पुरुष उसमें विरुद्ध धर्म (उपाधिओंकी भांति विनश्वित्वादि धर्म) का अध्यास नहीं हो सकता, अब इसमें यह शङ्का होती है कि जब पुरुषको निर्धर्म कहा है तो जन्ममरण बन्ध मोक्ष आदि धर्म क्यों कर उसमें माने जाते हैं इसका उत्तर यह है कि यह धर्म परिणामी नहीं है जैसे स्फटिक मणिके पास नीला वा पीला रङ्ग रखने से वह मणि भी नीली वा पीली दीख पड़ती है परन्तु वास्तवमें मणि श्वेत है इसी भांति पुरुषमें भी बुद्धिके धर्म सुखदुःखादि शरीरके धर्म पितापुत्रादि प्रतीत होते हैं * ॥ १५२ ॥

---

* इस सूत्रके दो अर्थ यों हुए कि 'एकत्वेन' यहां तृतीया भी

अन्यधर्मत्वेऽपि नारोपात् तत्सिद्धिरेकत्वात् ॥ १५३ ॥

बुद्धि आदिकोंका धर्म जो सुख दुःखादि उस धर्मका पुरुषमें आरोप करने पर भी पुरुषके परिणामित्वकी सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि सुख दुःखादि पुरुषके धर्म नहीं किन्तु बुद्धिके धर्म हैं पुरुष जन्मान्तरमें भी एक ही बना रहता है—अब यहां शंका होती है कि जब प्रति शरीरमें एक एक पुरुष है तो नानापुरुष सिद्ध हुये "एकमेव द्वितीयं ब्रह्म" इत्यादि अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियोंसे विरोध होगा—इसका उत्तर यह है कि ॥ १५३ ॥

नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात् ॥ १५४ ॥

अद्वैत कहनेवाली श्रुतियोंसे विरुद्ध नहीं होगा क्योंकि वहां पर अद्वैत शब्द जाति पर है जैसे एक पुरुषके समान अनेक पुरुष हैं ऐसे ईश्वरके समान कोई नहीं है जैसे लोकमें भी देखा जाता है कि 'अमुक पण्डित अद्वितीय है' इसका आशय यह ही समझा जाता है कि उसके समान कोई दूसरा नहीं इसही तरहसे ईश्वरको अद्वैत वा अद्वितीय कहते हैं अब रहा यह सन्देह कि जिस प्रकार अद्वैत श्रुतियोंका विरोध बचानेके लिये ईश्वरमें अद्वैत शब्द जातिपरक कहा उसी भांति पुरुष कोभी ईश्वरकाही रूपान्तर क्यों न मानें इसका उत्तर यह है कि ॥ १५४ ॥

समझ सकते हैं और नकारको पृथक् करके एकत्वको समझो भी कह सकते हैं सिद्धान्त की क्षति दोनों अर्थोंमें नहीं होगी।

विदितबन्धकारणस्य दृष्ट्यातद्रूपम् ॥ १५५॥

जिसका (पुरुषका) बन्ध कारण विदित हो चुका है उसका विचारभी लोक दृष्टिमें ही ईश्वरका रूपान्तर नहीं हो सकता आशय यह है कि पुरुष बन्ध आदि धर्मवाला, होनेसे ईश्वरका रूप नहीं। अब यह शङ्का होती है कि यदि जीव ईश्वरका रूपान्तर नहीं है तो अनेक शरीर धारण करने पर भी एकही पुरुष रहता है इसमें क्या प्रमाण है इसका उत्तर यह है कि ॥ १५५ ॥

नान्धादृष्ट्या चक्षुष्मतामनुपलम्भः ॥ १५६ ॥

जो पदार्थ अन्धोंको न दीख पड़े उसका अभाव नेत्रवान्भी कह देवें यह युक्त नहीं—इस सूत्रका आशय यह है कि एक ही पुरुष अनेक शरीरों में जन्मान्तर धारण करता है यह बात पूर्वही सिद्धकर आये फिर ऐसी तुच्छ शंका करना ही व्यर्थ है यदि अद्वैतवादी यह कहें कि पुरुष मुक्त होते ही अद्वैत-ब्रह्मरूप होजाता है सो भी अयुक्त है क्योंकि ॥ १५६ ॥

बामदेवादिर्मुक्तो नाद्वैतम् ॥ १५७ ॥

यद्यपि बामदेवादिक मुक्त होगये तोभी अद्वैत स्वरूप नहीं हुये क्योंकि यदि मुक्त जीव सब अद्वैत स्वरूप ही होजाते तो आज तक धीरे धीरे सब पुरुष अद्वैत होकर पुरुषाभाव हो जाता। यदि कहोकि धीरे धीरे ही पुरुष मुक्त होकर अद्वैत रूप होजाते हों, तो यह भी असम्भव है क्योंकि ॥ १५७ ॥

अनादावद्य यावदभावाद्भविष्यदप्येवम् ॥ १५८ ॥

अनादिकाल से लेकर जो बात अब तक नहीं हुई तो भविष्यत्में भी न होगी यही नियम है इससे यह सिद्ध हुआ कि अनादिकाल से लेकर अब तक जो कोई भी मुक्त पुरुष ब्रह्म नहीं हुआ क्योंकि पुरुष संख्या न्यून नहीं हुई और नवीन पुरुषोत्पत्ति मानी नहीं जाती तो भविष्यत्में भी ऐसाही होगा। अब सांख्यकार मोक्ष विषयमें अपना सिद्धान्त कहते हैं ॥१५८॥

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ॥ १५९ ॥

इस वर्त्तमान कालके दृष्टान्तसे यह समझना चाहिये कि पुरुषके बन्धका किसी कालमें भी अत्यन्त उच्छेद नहीं हो सकता, आशय यह है कि कोई भी पुरुष ऐसा मुक्त नहीं है कि फिर उसका बन्धकभी न हो सके इससे यह भी विदित हुआ कि मुक्त पुरुषका पुनर्जन्म होता है ॥ मोक्ष कैसा होता है इसका निर्णय करते हैं ॥ १५९ ॥

व्यावृत्तोभयरूपः ॥ १६० ॥

वह मुक्ति ऐहिक (यहांके) सुख, दुःख दोनोंसे ही विलक्षण है अर्थात् मुक्तिमें पुरुषको शान्तसुख प्राप्त होता है अब यहां पर यह शङ्का होती है कि जब पुरुषको साक्षी कह चुके वह साक्षित्व मोक्षकालमें नहीं रह सकता क्योंकि वहां बुध्यादिका अभाव है तो "पुरुष सदा एकरूप रहता है" यह कथन असंगत हुआ इसका उत्तर यह है कि ॥ १६० ॥

साक्षात्सम्बन्धात् साक्षित्वम् ॥ १६१ ॥

पुरुषको जो साक्षित्व कहा है वह बुध्यादिके साथ साक्षात् सम्बन्धमें कहा है—किन्तु वास्तवमें पुरुष साक्षी नहीं है क्योंकि पाणिनि मुनिने साक्षीशब्दका अर्थ ऐसा किया है कि "साक्षाद्द्रष्टरिसंज्ञायाम्" ५।२।९१ इस सूत्रसे साक्षीशब्द निपातन किया है कि जितने कालमें निरन्तर देखता रहता है उतनेही कालमें साक्षी संज्ञा है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जितने काल तक पुरुषका बुद्धिके साथ सम्बन्ध रहता है उतने ही काल तक पुरुषकी साक्षीसंज्ञा रहती है। यदि बुद्धिके सम्बन्धसे पुरुषमें दुःखादिकी कल्पना है तो पुरुष वास्तवमें दुःखादिसे मुक्त होनेसे यह दोष होगा कि ॥ १६१ ॥

नित्यमुक्तत्वम् ॥ १६२ ॥

पुरुष नित्य मुक्त माना जायगा फिरमुक्तिका उपाय करना निष्फल होगा इस सूत्रके अर्थमें विज्ञान भिक्षुने जो "नित्य मुक्तत्वम्" यह पुरुषका विशेषण (पुरुकों वास्तवमें नित्य मुक्त) माना है और साथहीमें नवीन वेदान्ति महादेव वृत्तिकारने भी वैसाही लिख कर पुरुषको ब्रह्मका रूपान्तर सिद्ध किया है यह दोनोंही कथन इस कारणसे अयुक्त हैं कि "इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः" इस सूत्रमें पुरुषकी अनित्य मुक्ति कपिलाचार्य्यने की है उससे यहां विरोध होगा। उन टीकाकारोंने यह न सोचा कि क्या उन ऋषियोंकीभी बुद्धि मनुष्योंकी भांति क्षणिक होती है ? कि कभी कुछ कहें और कभी कुछ कहें। जब उक्त सूत्र (इदानीं इत्यादि) में पुरुषको अनित्य मुक्त कह चुके फिर नित्य-

मुक्त क्यों कह सकते हैं ? उक्त टीकाकारोंके कथनमें इस कारण भी अयुक्तता है कि जो दोष कपिल आचार्यको अपने कहे हुये विशेषणोंमें दीखे उनके सम्हालनेके वास्ते "साक्षात्सम्बन्धात् साक्षित्वं" यह सूत्र कहा एवं "नित्यमुक्तत्वं" और "औदासीन्य" यह दो प्रकारके दोष आवेंगे उनका समाधान इस अध्यायके अन्तिम सूत्रसे सिद्ध कर दिया है अतएव "नित्यमुक्तत्वं" यह सूत्र और अगला सूत्र औदसीन्यं चेति यह दोनों दोषदर्शक हैं ॥१६२॥

औदासीन्यं चेति ॥ १६३ ॥

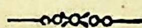
और पुरुको वास्तवमें मुक्त माननेसे औदासीन्य दोष होगा क्योंकि पुरुषको किसीसे सम्बन्धही नहीं तो वह किसी कर्मका कर्त्ताक्यों होगा जब किसीका कर्त्ताही न रहा तो बन्धन आदि में क्यों पड़ेगा ? तब उसमें औदासीन्य दोष होगा इस सूत्रका भाव और पुरुषमें कर्त्तृत्व अगले सूत्रमें कहेंगे । 'इति' यह इस लिये है कि पुरुषकी सिद्धिमें दोषादिका खण्डन कर चुके ॥१६३॥

उपरागात् कर्त्तृत्वं चित्सानिध्यात् चित्सानिध्यात् ॥ १६४ ॥

पुरुषमें जो कर्त्तृत्व है सो बुद्धिके उपरागसे है बुद्धिमें जो चित्शक्ति है वह पुरुषके सानिध्यसे है यहां पर जो चित्सानिध्यात् यह दो वार उच्चारण है वह अध्याय समाप्तिका सूचक है। इस अध्यायमें शास्त्रके मुख्य चार अर्थ कथन किये गये हेय, (त्यागने योग्य) हान, (त्यागना) हेय, और हान इन दोनोंके हेतु॥१६४॥

इति साङ्ख्यदर्शने प्रथमोऽध्यायः ।

द्वितीयोऽध्यायः ।



विमुक्तमोक्षार्थं* स्वार्थं वा प्रधानस्य ॥ १ ॥

शास्त्रका विषय निरूपण करचुके। अब पुरुषका अपरिणामित्व (परिणामको प्राप्त नहीं होना) यह प्रतिपादन करनेके लिये प्रकृतिसे सृष्टिका होना यह द्वितीयाध्यायमें विस्तरसे कहेंगे इस ही अध्यायमें प्रधानके जो कार्य्य हैं उनका स्वरूप विस्तरसे कहना है प्रकृतिके कार्य्यों से पुरुषका अच्छी तरह ज्ञान होता है क्योंकि बिना उसके कार्य्यों का ज्ञान हुये मुक्ति कदापि नहीं हो सकती। इसका आशय यह है कि जबतक पुरुष, प्रकृति, और प्रकृतिके कार्य्य, इनका सम्यक् (भलीभांति) ज्ञान नहीं होगा तबतक मुक्ति भी न होगी। अर्थात् उनके जाननेसेही मुक्त होता है यदि अचेतन प्रकृति निष्प्रयोजन सृष्टिको उत्पन्न करती है तो मुक्तका भी बन्ध होगा इस आशयको विचारके सृष्टि उत्पत्तिका प्रयोजन इस सूत्रमें कहते हैं॥ कि पुरुषमें जो प्रतिबिम्ब सम्बन्धसे दुःख प्रतीत होता है उसकी मुक्तिके लिये अथवा स्वार्थ अर्थात् पुरुषके सम्बन्धसे जो बुद्ध्यादि को दुःखः होते हैं उनके दूर करनेके वास्ते प्रधान अर्थात् प्रकृतिको कर्त्तृत्व है। इस सूत्रमें कर्त्तृत्व पूर्व सूत्रसे अनुवर्त्तन किया जाता है। अब यह शंका होती है कि मोक्षके वास्ते

* विगतं दूरीभूतं मुक्तं मोचनं यस्य स विमुक्तो बद्धस्तस्य मोक्षार्थम्।

ही जो सृष्टि होती है तो एकही बारकी सृष्टिमें सब पुरुषों का मोक्ष होजाता पुनः पुनः सृष्टि होनेका क्या प्रयोजन है ? इसका उत्तर यह है कि ॥ १ ॥

विरक्तस्य तत्सिद्धेः ॥ २ ॥

एकही बार सृष्टिसे मुक्त नहीं होता है किन्तु बहुतसे जन्म मरणादि दुःखसे सन्तप्त हो कर प्रकृति पुरुषका ज्ञान होजाने से जब वैराग्य उत्पन्न होता है तब मोक्ष होता है । वह वैराग्य एक बारकी सृष्टिसे किसी पुरुषको नहीं हुआ इसमें प्रमाण यह है कि ॥ २ ॥

न श्रवणमात्रात् तत्सिद्धिनादिवासनाया बलवत्त्वात् ३

केवल श्रवणमात्रसे मुक्तिकी सिद्धि नहीं हो सकती है । और श्रवण भी बहुत जन्मसे किये हुए पुण्यसे प्राप्त होता है तथापि केवल श्रवण से मुक्ति नहीं है किन्तु विवेक साक्षात्कार होनेसे मुक्ति होती है और साक्षात्कार शीघ्र हो नहीं सकता क्योंकि अनादि दुर्वासना बलवती है उसके रहते पुरुष मुक्त नहीं हो सकता किन्तु योग से विवेक साक्षात्कार होकर मुक्त होता है इस योगमें नाना विघ्न होनेसे बहुत जन्मोंके उपरान्त योग सिद्ध होता । एवं जन्मान्तरमें वैराग्यको प्राप्त होके किसी समयमें कोई ही पुरुष मोक्षको प्राप्त होजाता है सब नहीं होते । अब सृष्टिप्रवाह (जन्ममरण) में हेतु कहते हैं ॥ ३ ॥

बहुभृत्यवद्वा प्रत्येकम् ॥ ४ ॥

अब इसमें यह सन्देह होता कि सृष्टिका प्रवाह किस तरह चलता है, इस सन्देहको दूर करनेके लिये कपिलाचार्य्यने यह

सूत्र दृष्टान्तमें लिखा है कि जैसे एक घरके बहुतसे नौकरोंका भरणपोषण स्त्री, पुरुष, बालक आदि क्रमसे करते हैं इसी भांति प्रकृतिके सत्वादि गुण प्रत्येक असंख्य पुरुषोंको क्रमसे मुक्त करते हैं इस लिये कितने ही पुरुषोंका मोक्ष हो भी जाता है परन्तु अन्य पुरुषोंकी मुक्तिके लिये सृष्टिप्रवाहकी आवश्यकता है क्योंकि पुरुष अनन्त हैं। अब यह शङ्का होती है कि प्रकृति ही सृष्टिकी करनेवाली क्यों है? क्योंकि पुरुषको सृष्टिका कर्त्ता सब मानते हैं इसका उत्तर यह है कि ॥ ४ ॥

प्रकृतिवास्तवे च पुरुषस्याध्याससिद्धिः ॥ ५ ॥

यद्यपि प्रकृति वास्तवमें सृष्टिकर्त्री है तथापि सृष्टि करनेमें पुरुष की अध्याससिद्धि* है इसी लिये वह सृष्टिकर्त्ता कहाता है, जैसे—संग्राममें योद्धा अपनी शक्तिसे जय वा पराजय करते हैं, वह सब राजा का समझा जाता है एवं प्रकृतिहीसे सृष्टि है तथापि उसका कर्त्ता पुरुषको जानना चाहिये। अब यहां यह सन्देह होता है कि प्रकृति ही वास्तवमें सृष्टिकर्त्री कैसे हैं क्योंकि सृष्टि अनित्य सुनी जाती है तो उसका कारण प्रकृति भी अनित्य होगी इसका उत्तर यह है कि ॥ ५ ॥

कार्यतस्तत्सिद्धेः ॥ ६ ॥

प्रकृतिके वास्तव कर्त्तृत्वकी सिद्धि कार्य्योंके देखनेहीसे हो सकती है क्योंकि यह सृष्टि रूपी कार्य्य सिवाय प्रकृतिके और किसका कहा जासकता है यदि पुरुष का कहैं तो पुरुषमें

---

* अध्यास उसे कहते हैं कि काम दूसरा करै नाम दूसरेका हो जैसा दृष्टान्तसे स्पष्ट हो।

परिणामित्व आता है और यदि प्रकृति का न कहैं तौ किसका हैं यह प्रश्न होसकता है, अतएव प्रकृतिहीको बास्तवमें कर्त्तृत्व है और जो सृष्टिके अनित्यत्वमें स्वप्नका दृष्टान्त दिया जाता है सो भी ठीक है क्योंकि स्वप्न भी अपनी अवस्थामें सत्य होता है अतएव सृष्टि नित्य है और उसका कारण भी नित्य है। यहां यह सन्देह होता है कि प्रकृति अपनी मोक्षके लिये सृष्टि करने में क्यों प्रवृत्त होती है इसका उत्तर यह है कि॥ ६ ॥

चेतनोद्देशान्नियमः कण्टकमोक्षवत् ॥ ७ ॥

विवेकी पुरुषके प्रति प्रकृतिका यह ही नियम है कि वह विवेकीके द्वारा अपनी मोक्ष करे जैसे ज्ञानवान् पुरुष अति-बुद्धिमत्ताके साथ कांटेसे कांटेको निकालता है उसीका सहारा अन्य अज्ञ मनुष्य भी लेते हैं, इसी तरह प्रकृति भी जानों। अब यहां यह शङ्का होती है कि पुरुषमें स्रष्टृत्व (बनानेवालापन) कल्पना मात्र ही कहा सो ठीक नहीं क्योंकि प्रकृतिके संयोगसे पुरुष भी महदादिकोंके परिणामको धारण करलेता है, जैसे— काष्ठादिक पृथिवोमें बहुत समय तक पड़े रहनेसे पृथिवोके समान हो होजाते हैं वैसे पुरुष भी होना चहिये इसका उत्तर यह है कि॥ ७॥

अन्ययोगेऽपि तत्सिद्धिर्नाञ्जस्येनायोदाहवत् ॥ ८ ॥

प्रकृतिके साथ पुरुषका योग होनेसे भी पुरुष बास्तवमें सृष्टिकर्त्ता नहीं यह प्रत्यक्ष ही है जैसे लोह और अग्निके संयोग होने पर लोह अग्नि नहीं हो सकता॥ यद्यपि इस दृष्टान्तसे दोनोंमें परिणामित्व हो सकता है क्योंकि अग्नि और लोहेने

अपनी पूर्वावस्थाको छोड़ दिया तथापि एकही परिणामी होना चाहिये क्योंकि दोनों परिणामी होनेसे गौरव होता है, जो दोनोंहीको परिणामी कहैं तो स्फटिकमणिमें लाल या पीले रंगकी झांई पड़नेसे जो उसमें ललाई वा पिलाई आती है वह भी वास्तविक माननी पड़ेगी परन्तु वैसा नहीं माना जाता। अब सृष्टिका मुख्य निमित्त कारण कहते हैं ॥ ८ ॥

रागविरागयोर्योगः सृष्टिः ॥ ९ ॥

राग और विरागके योगको सृष्टि कहते हैं अर्थात् जिसमें राग और विराग दोनोंका योग हो उसे सृष्टि कहते हैं इन दोनोंका योग होना ही सृष्टि करनेका निमित्त कारण है अब सृष्टि प्रक्रिया करते हैं ॥ ९ ॥

महदादिक्रमेण पञ्चभूतानाम् ॥ १० ॥

महत्तत्त्वादिकोंसे आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी इन पञ्चभूतोंकी उत्पत्ति हुई॥ यद्यपि प्रकृतिका स्रष्टृत्व अपनी मुक्तिके लिये हो क्योंकि वह प्रकृति नित्य है किन्तु महदादिकोंका अपने अपने विकारका स्रष्टृत्व अपनी मुक्तिके लिये नहीं हो सकता क्योंकि वह अनित्य हैं अतएव महदादिकोंका स्रष्टृत्व परार्थ है इस आशयसे कहते हैं॥ १० ॥

आत्मार्थत्वात् सृष्टेर्नैषामात्मार्थ आरम्भः ॥ ११ ॥

महदादिकोंका स्रष्टृत्व पुरुषके मोक्षके लिये है किन्तु अपने लिये नहीं क्योंकि महदादि विनाशी हैं यदि कोई यह सन्देह करे कि महदादिकोंका स्रष्टृत्व (बनानेवालापना) परार्थ है तो प्रकृतिके लिये हो किन्तु पुरुषके लिये क्यों है इसका उत्तर यह

है कि महदादिक प्रकृतिके ही कार्य्य है अतएव परशब्दसे पुरुषहीका ग्रहण होगा। अब दिशा और कालकी सृष्टिको कहते हैं॥ ११॥

दिक्कालावाकाशादिभ्यः॥ १२॥

आकाशसे दिशा और काल हुए यह दोनों आकाशकी भांति नित्य हैं अर्थात् आकाशमें जो विभुत्व (व्यापकता) है वह इन दोनोंमें भी है अतएव यह दोनों नित्य हैं। और जो खण्ड दिक्काल हैं सो तो उपाधिसंयोगसे आकाशसे उत्पन्न होते हैं वह अनित्य हैं। इस सूत्रमें आदि शब्दसे उपाधिका ग्रहण होता है। अब महदादिकोंका स्वरूप और धर्म्म वर्णन करते हैं॥ १२॥

अध्यवसायो बुद्धिः॥ १३॥

अध्यवसाय (निश्चय) ही बुद्धि है वह बुद्धि महत्तत्वका दूसरा नाम है। महत्तत्वके कार्य्य कहते हैं॥ १३॥

तत्कार्यं धर्मादि॥ १४॥

उस बुद्धिके कार्य्य धर्म्मादिक हैं अर्थात् धर्म्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य्य इनका उपादान कारण बुद्धि है। अब यहां यह शङ्का होती है कि यदि बुद्धिके कार्य्य धर्म्मादिक हैं तो मूर्खजनोंकी बुद्धि ऐसी क्यों हो जो उनमें अधर्म्म प्रबल है? इस का उत्तर यह है कि॥ १४॥

महदुपरागाद्विपरीतम्॥ १५॥

रज और तमोगुणके उपराग (अधिकता)से महत्तत्वके कार्य्य

धर्मादिक विपरीत होजाते हैं अर्थात् अधर्म, अवैराग्य, अज्ञान, अनैश्वर्य्य, यह विपरीत कार्य्य हो जाते हैं। अब महत्तत्वके कार्य्य अहङ्कारको कहते हैं ॥ १५ ॥

अभिमानोऽहङ्कारः ॥ १६ ॥

अहं करनेवालेको अहङ्कार कहते हैं जैसे कुम्भ करनेवालेको कुम्भकार। यह अहङ्कार अन्तःकरणका द्रव्य है अहङ्कार और अभिमान एकही वस्तुके नाम हैं। अब अहङ्कारका कार्य्य कहते हैं ॥ १६ ॥

एकादशपञ्चतन्मात्रं यत्कार्यम् ॥ १७ ॥

एकादश इन्द्रिय चक्षुश्रोत्रादि पञ्चतन्मात्रा यह सब अहङ्कार के कार्य्य हैं ॥ १७ ॥

सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्त्तते वैकृतादहङ्कारात् ॥ १८ ॥

वैकृत (विकारको प्राप्त हुए) अहङ्कारसे सात्विक (ग्यारवां) मन प्रवर्त्त होता है। और यह भी समझना चाहिये कि राजस (रजोगुणवाले) अहङ्कारसे केवल दश इन्द्रिय—और तामस (तमोगुणवाले) अहङ्कारसे पञ्चतन्मात्रा होती हैं और मन सतोगुणसे होता है अतएव उसे अब एकादश इन्द्रिय बताते हैं ॥ १८ ॥

कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम् ॥ १९ ॥

कर्मेन्द्रिय वाणी, हाथ, पांव, गुदा, उपस्थ, ज्ञानेन्द्रिय— श्रोत्र, (कान) त्वक्, (खाल) चक्षु, (आंख) रसना, (जिह्वा) घ्राण, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय इनका आन्तर ११ वां मन है। कोई ऐसा कहते हैं कि इन्द्रियोंकी उत्पत्ति पञ्चभूतोंसे है उस भौतिकत्व मतको दूर करते हैं ॥ १९ ॥

आहङ्कारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि ॥ २० ॥

"एकोऽहं बहु स्यां" (एकमैं बहुत होजाता हूं)' इत्यादि बहुतसी श्रुतियां अहंकारसेही इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करती हैं इस लिये आकाशादि पञ्चभूतोंसे इन्द्रियोंकी उत्पत्ति नहीं कह सकते ॥ "अग्निं वागप्येति वातं प्राणः" (अग्निमें वाणी लय होती है पवनमें प्राण लय होता है) इत्यादि श्रुतियों पर कोई सन्देह करते हैं कि जब इनमें इन्द्रियोंका लय है तो उत्पत्ति भी इन्हींसे होगी इसका उत्तर यह है कि ॥ २० ॥

देवतालयश्रुतिर्नारम्भकस्य ॥ २१ ॥

अग्नि आदि दिव्य गुणविशिष्ट पदार्थोंमें लय सुना जाता है किन्तु उत्पत्ति नहीं सुनी जाती और यह भी कोई नियम नहीं कि जिसमें जिसका लय हो उससे उसकी उत्पत्ति भी अवश्य ही हो जैसे कि जलविन्दु भूमिमें लय होजाता है परन्तु वह उससे उत्पन्न नहीं हुआ अतएव इन्द्रियोंकी उत्पत्ति अहंकारसे हो सकती किन्तु भौतिक नहीं है यह सूत्र पूर्व सूत्रके भी पुष्टि—पक्षमें है कोई ऐसा कहते हैं कि इन्द्रियान्तर्गत मन नित्य है इसका उत्तर यह है कि ॥ २१ ॥

तदुत्पत्तिश्रुतेर्विनाशदर्शनाच्च ॥ २२ ॥

मन की उत्पत्ति "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" (इससे प्राण, मन और सब इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं) इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध है, और मनका विनाश भी देखा जाता है क्योंकि वृद्धादि अवस्थाओंमें चक्षु आदि इन्द्रियोंकी तरह मन भी क्षय होता है इससे मन नित्य नहीं है। नास्तिक लोग

कहते हैं कि चक्षु घ्राण आदि इन्द्रियोंका गोलक (चिन्हों) को ही इन्द्रिय कहते हैं इसका उत्तर यह है कि ॥ २२ ॥

अतीन्द्रियमिन्द्रियं भ्रान्तानामधिष्ठाने ॥ २३ ॥

भ्रान्तोंकी बुद्धिमें गोलक का नाम इन्द्रिय है वस्तुत: इन्द्रियां अतीन्द्रिय हैं अर्थात् इन्द्रियोंसे इन्द्रियोंका ज्ञान नहीं होता। अब यहां यह शङ्का होती है कि इन्द्रिय एकही है उसही को अनेक शक्ति अनेक विलक्षण कार्य्य करती रहती है इसका उत्तर यह है कि ॥ २३ ॥

शक्तिभेदेऽपि भेदसिद्धौ नैकत्वम् ॥ २४ ॥

एक इन्द्रियकी भी अनेक शक्ति माननेसे इन्द्रियोंका भेद सिद्ध होगया क्योंकि उन शक्तियोंमें ही इन्द्रियत्व स्थापन किया जा सकता है। अब यहां यह संदेह होता है कि एक अहंकार से अनेक तरहकी इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होना यह न्याय विरुद्ध है क्योंकि एकसे एकही वस्तु उत्पन्न होनी चाहिये इसका उत्तर यह है कि ॥ २४ ॥

न कल्पनाविरोध: प्रमाणदृष्टस्य ॥ २५ ॥

जो वस्तु प्रमाणसे सिद्ध है उस वस्तुका कल्पना करना न्याय विरुद्ध है नहीं हो सकता, क्योंकि महदादिकोंमें जो गुण हैं वह महदादिकोंके कार्य्यों में भी दिखाई पड़ते हैं एवं प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जो सिद्ध है वह न्यायविरुद्ध नहीं। वास्तव में मन एक है उसहीकी शक्ति भेदसे दश इन्द्रियां अपने अपने कार्य्यमें प्रवृत्त होती हैं यह बात अगले सूत्रसे कहते हैं ॥ २५ ॥

उभयात्मकं मनः ॥ २६ ॥

ज्ञान इन्द्रिय और कर्म इन्द्रिय इन दोनों प्रकारके इन्द्रियोंसे मनका सम्बन्ध है अर्थात् मनके विना कोई इन्द्रिय अपने कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकती। अब उक्त सूत्रका अर्थ इस सूत्रसे विस्तरसे कहते हैं ॥ २६ ॥

गुणपरिणामभेदान्नानात्वमवस्थावत् ॥२७॥

गुणोंके परिणाम भेदसे एक मनकी अनेक शक्ति इस प्रकार होती हैं जैसे एकही मनुष्य जैसे मनुष्यके साथ रहे उसमें वैसेही गुण आजाते हैं यथा कामिनीके सङ्गसे कामी, विरक्तके सङ्गसे विरक्त होता है एवं मनभी चक्षुः आदि जिस जिस इन्द्रियसे संग करता है उस इन्द्रियसे एकीभाव (मिल) हो जाता है—अब ज्ञान इन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय इन दोनोंका विषय कहते हैं ॥ २७ ॥

रूपादिरसमलान्त उभयोः ॥ २८ ॥

रूपसे आदि लेकर और मलत्याग पर्य्यन्त ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंके विषय हैं * जिसके आश्रयसे यह इन्द्रिय कहे जाते हैं उस हेतुको कहते हैं ॥ २८ ॥

द्रष्टृत्वादिरात्मनः करणत्वमिन्द्रियाणाम् ॥२९॥

इन्द्रियोंका करणत्व आत्माको है अर्थात् जो इन्द्रियां अपनी अपनी कार्य्यमें प्रवृत्त होतीं हैं वह केवल आत्माकी समीपतासे

---

*चक्षुका रूप, जिह्वाका रस, घ्राणका गन्ध, त्वचाका स्पर्श, श्रवणों का शब्द, मुखका बचन, हाथका पकड़ना, चरणोंका गमन, लिङ्गका मूत्रत्यागादि गुदाका पुरीषत्याग, यह दशों इन्द्रियोंके दश विषय हैं।

होती हैं और आत्माके सानिध्यसे (समीपतासे) देखना आदि कार्य्य इन्द्रियां कर सकती हैं इससे आत्माको परिणामित्व नहीं आसकता क्योंकि जैसे चुम्बककी समीपतासे लोहा खिंच आता है इसी भांत आत्माकी समीपतासे इन्द्रियोंमें देखना आदि उत्पन्न होता है। अब अन्तःकरणकी वृत्तियोंको कहते हैं ॥२९॥

त्रयाणां स्वालक्षण्यम् ॥ ३०॥

महत्तत्व अहङ्कार और मन यह तीनों अपनी अपनी असाधारणी वृत्तिवाले हैं क्योंकि अन्तःकरणमें महत्तत्वके लक्षण (निश्चय आदि) और अहङ्कारके लक्षण आत्मामें (अविद्यमान गुणोंका आरोप) और मनका लक्षण (सङ्कल्प विकल्प) यह तीनों अन्तःकरणके असाधारण धर्म्म हैं यही बात पूर्वभी कह आये हैं कि निश्चयका नाम बुद्धि, अभिमानका नाम अहङ्कार, सङ्कल्प विकल्पका नाम मन है, अब उक्त तीनोंकी साधारणी वृत्ति कहेंगे ॥ ३० ॥

सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥ ३१ ॥

प्राणादि रूप पांच वायु अन्तःकरणकी साधारणी वृत्ति है अर्थात् प्राण (जो हृदयमें रहता है) अपान (जो गुदामें रहता है) उदान जो (कण्ठमें रहता है) समान (जो नाभिमें रहता है) व्यान (जो सर्वशरीरमें रहता है) यह अन्तःकरणके परिणाम भेद हैं और जो बहुतसे प्राण और वायुको एक समझते है उनका सिद्धान्त इस कारण अयुक्त है कि "एतस्माज्जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च, खम्बायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी" इसमें प्राण और वायुको जुदा जुदा कहा है अब

आचार्य अपने सिद्धान्तको प्रकट करते हैं कि जैसे वैशेषिकवाले इन्द्रियोंकी वृत्ति क्रमसे (एककालमें एक ही इन्द्रिय कार्य्य करेगा) मानते हैं उसे अयुक्त सिद्ध करते हैं ॥ २१ ॥

क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः ॥ २२ ॥

इन्द्रियोंकी वृत्तिक्रमसे भी होती है और अक्रमसे भी होती है क्योंकि लोकमें देखा जाता है कि "एक आदमी पानी पीता हुआ देखता भी है" । बुद्धिकी वृत्तियांही संसारका निदान हैं अर्थात् जन्ममरणादिक बुद्धिकी वृत्तियोंसे ही होता है यही कहते हैं ॥ २२ ॥

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥२३॥

प्रमाण (प्रत्यक्षादि) विपर्यय (मिथ्याज्ञान) विकल्प (सन्देह) निद्रा (सोना) स्मृति (यादकरना) यह बुद्धिकी पांच वृत्ति सुख और दुःखकी देनेवाली हैं। जब बुद्धिकी वृत्तियां निवृत्त होती हैं तब पुरुषकी स्वरूपमें स्थिति होती है इसे अगले सूत्रमें कहते हैं ॥ २३ ॥

तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः ॥२४॥

बुद्धिवृत्तियां निवृत्त हो जाने पर पुरुषका उपराग शान्त हो जाता है और पुरुष स्वस्थ होता है ,ऐसाही योग सूत्रमें भी कहा है जब चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होता है तब द्रष्टा (पुरुष) अपने स्वरूपमें स्थित होता है ॥ पुरुषका स्वस्थ होना यही है कि उसके उपाधि रूप प्रतिबिम्बका निवृत्त हो जाना, यही दृष्टान्तसे प्रगट करते हैं ॥ २४ ॥

कुसुमवच्चमणिः ॥ ३५ ॥

'जैसे स्फटिकमणिमें रक्तादि पुष्पोंका प्रतिबिम्ब पड़नेसे रक्तादि रंग होते हैं और पुष्पआदि अलग करनेसे स्वच्छस्फटिक रह जाता है वैसेही बुद्धिकी वृत्तियोंके निवृत्त होनेसे पुरुषराग रहित और स्वस्थ होता है—अब यहां यह शङ्का होती है कि यह इन्द्रियां किसके प्रयत्नसे स्व, स्व, कार्य्योंमें प्रवृत्त होतीं हैं ? क्योंकि पुरुषतो कूटस्थ (निर्विकार) है, और ईश्वरसे इन्द्रियोंका कुछ सम्बन्धही नहीं है, इसका उत्तर यह है कि ॥ ३५ ॥

पुरुषार्थं करणोद्भवोऽप्यदृष्टोल्लासात् ॥ ३६ ॥

पुरुषके लिये इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति भी उसी कर्मके वशसे है जो कि पूर्व प्रकृतिको प्रतिपादन कर चुके हैं और इसका दृष्टान्त ऊपरके सूत्रमें दे चुके हैं कि संयोगसे जैसे एकका गुण दूसरेमें प्रतीत होता है उसी भांति प्रकृतिका कर्म पुरुष संयोग से है वही इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिमें हेतु है, इस सूत्रमें 'अपि'शब्दसे पूर्वोक्त प्रकृतिका स्मरण दिलाकर पुरुषको कर्मसे कुछ अंशमें मुक्त किया है, और फिरभी इसी पक्षको पुष्टकरनेके निमित्त दृष्टान्त देंगे। दूसरेके लिये भी अपने आप प्रवृत्ति होती है इसमें दृष्टान्त कहते हैं ॥ ३६ ॥

धेनुवद्वत्साय ॥ ३७ ॥

जैसे बछड़ेके लिये गौ अपने आप दुग्ध उतार देती है। दूसरेके प्रयत्नकी अपेक्षा नहीं करती, इसी भांति अपने स्वामी (पुरुष) के लिये इन्द्रियों कि प्रवृत्ति अपने आप होती है।

अब यह प्रश्न होता है कि इन्द्रिय वाह्य (बाहरके) और आभ्यन्तर (भीतरके) कितने हैं इसका उत्तर यह है कि ॥ ३७ ॥

करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात् ॥ ३८ ॥

अवांतर भेदसे इन्द्रिय तेरह प्रकारके हैं अर्थात् पांचकर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि, और अहंकार, अवान्तर कहनेसे यह प्रयोजन है कि बुद्धिही सर्व इन्द्रियोंमें मुख्य है—अब यहां यह शङ्का होती है कि पुरुषके लिये इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिमें बुद्धिही मुख्य इन्द्रिय है अन्य इन्द्रिय गौण हैं तो बुद्धिमें वह मुख्यत्व कौनसा है इसका उत्तर यह है कि ॥ ३८ ॥

इन्द्रियेषु साधकतमत्वगुणयोगात् कुठारवत् ॥ ३९ ॥

जैसे लकड़ीके काटनेमें प्रहार (मारना) मुख्य कारण है और कुठार उसका (काटनेका) मुख्य साधन है इसी भांति इन्द्रियोंमें करणत्व और बुद्धिमें साधकतमत्व (जिसके बिना कदापि कार्य्यसिद्ध न हो) का योग है—अब रहा यह सन्देह कि अहङ्कारको भी जब इन्द्रियोंका अन्वयी (मिलनेवाला) कहा तो बुद्धिको मुख्य करण नहीं कह सकते, इसका उत्तर यह है कि ॥ ३९ ॥

द्वयोः प्रधानं मनो लोकवद्भृत्यवर्गेषु ॥ ४० ॥

दोनोंमें बुद्धिही प्रधान है क्योंकि लोकमें भी यही देखा-जाता है कि जैसे राजाके बहुतसे नोकरोंमें से मन्त्री एकही होता है, और छोटे छोटे ग्रामाऽध्यक्ष (जमीदार) अनेक होते

हैं इसी भांति बुद्धि प्रधान और अन्य गौण हैं। तीन सूत्रोंसे बुद्धिके प्रधान होनेमें हेतु कहते हैं कि ॥ ४० ॥

अव्यभिचारात् ॥ ४१ ॥

यद्यपि बुद्धि सब इन्द्रियोंमें व्यापक है तो भी अपने कार्य्यमें उसका अव्यभिचार (निश्चय) दिखाई पड़ता है ॥ ४१ ॥

तथा शेषसंस्काराधारत्वात् ॥ ४२ ॥

बुद्धिही संपूर्ण संस्कारों को धारण करती है। यदि चक्षुआदि वा अहङ्कार वा मनको प्रधान (मुख्य) कहें तो अन्ध और बधिरोंको स्मरणशक्ति न होनी चाहिये, तत्त्वज्ञानके समयमें अहङ्कार और मनका लयभी होजाता है तो भी स्मरण शक्ति बनी रहती है जो कि बुद्धिका धर्म है ॥ ४२ ॥

स्मृत्यानुमानाच्च ॥ ४३ ॥

स्मृति अर्थात् चिन्तनरूपा वृत्तिका प्रधान अनुमान बुद्धिसे ही होता है क्योंकि चिन्तावृत्ति (ध्यानकी एक अवस्था) संपूर्ण अवस्थाओंसे श्रेष्ठ है—इस सूत्रसे विदित होता है कि कपिलाचार्य्य चित्त और बुद्धिको एकही मानते हैं और अन्यमतवादियों की भांति मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार इन चारोंको अन्त:करण चतुष्टय नहीं मानते—अब यह शङ्का होती है चिन्तावृत्ति पुरुषही की क्यों न मानली जाय ? इसका उत्तर यह है कि ॥ ४३ ॥

सम्भवेन्न स्वतः ॥ ४४ ॥

पुरुषको अपने आप स्मृति नहीं हो सकती क्योंकि पुरुष

कूटस्थ है—इस सूत्रका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि [कोई शङ्का करे कि जब बुद्धिको करण (मुख्य इन्द्रिय) कहते हैं तो अन्य इन्द्रियोंसे क्या प्रयोजन इसके उत्तरमें यह सूत्र है कि ।] बिना नेत्रादिके बुद्धि अपना कोई कार्य्य नहीं कर सकती यदि नेत्रादि बिना भी बुद्धि अन्य इन्द्रियोंका कार्य कर सकती तो अन्ध पुरुष भी देख सकता, क्योंकि उसके भी बुद्धि होती है परन्तु ऐसा लोकमें नहीं देखाजाता इससे सिद्ध है कि बुद्धि मुख्य इन्द्रिय और सब गौण इन्द्रिय हैं । अब यह शङ्का होती है कि जो बुद्धिको ही प्रधानता कहते हैं तो पूर्वसूत्रोंमें मनको उभयात्मक क्यों माना इसका उत्तर यह है कि ॥ ४४ ॥

आपेक्षिको गुणप्रधानभावः क्रिया—विशेषात् ॥ ४५ ॥

क्रियाकी न्यूनाधिकता होनेसे गुणोंका भी प्रधानभाव (बड़पन) एक दूसरेकी अपेक्षा (वनिस्बत) से होता है जैसे चक्षु आदिके व्यापारमें मन प्रधान, मनके व्यापारमें अहङ्कार प्रधान, अहङ्कारके व्यापारमें बुद्धि प्रधान है— यहां सन्देह होता है कि पुरुषकी प्रधान इन्द्रिय बुद्धिही है और कई नहीं यह व्यवस्था क्यों है ? इसका उत्तर यह कि ॥ ४५ ॥

तत्कर्मार्ज्जितत्वात् तदर्थमभिचेष्टा लोकवत् ॥ ४६ ॥

जैसे लोकमें देखा जाता है कि जो पुरुष कुठार खरीदता है उस कुठारके व्यापारसे फलभी खरीदनेवाले को होता है इसी भांति बुद्धिभी पुरुष कर्म्मार्जित है अतएव बुद्धि आदि का फल पुरुषको मिलता है, अतएव बुद्धिही पुरुषका मुख्य

इन्द्रिय गिना जाता है यह समाधान पूर्वभी कह चुके हैं कि पुरुष कर्मरहित है परन्तु उसमें राजाकी जय पराजय की भांति आरोपित किया जाता है अब बुद्धिकी प्रधानता प्रकट करके अध्यायको समाप्त करते हैं ॥ ४६ ॥

समानकर्मयोगे बुद्धेः प्राधान्यं लोकवल्लोकवत् ॥४७॥

यद्यपि पुरुषका सब इन्द्रियोंके साथ समान कर्म योग है तथापि बुद्धिको प्रधानता हैं जैसे एक राजाकी सभी प्रजा है किन्तु ग्रामाध्यक्ष (जमीदार) की अपेक्षा मन्त्रीकी प्रधानता है यह लोकके समान दृष्टान्त यहांभी समझना चाहिये, लोकवत्का दो बार कथन अध्याय समाप्तिके निमित्त है। इस अध्यायमें प्रकृतिका कार्य्य प्रकृतिकी सूक्ष्मता, द्विविध इन्द्रिय, अन्तः-करण आदिका वर्णन किया गया है ॥ ४७ ॥

इति साङ्ख्यदर्शने द्वितीयोऽध्यायः ।

अथ-तृतीयोऽध्यायः।

इस अध्यायमें प्रकृतिका स्थूलकार्य्य महाभूत (पृथिवीआदि) और दो प्रकारके शरीरोंका वर्णन करेंगे।

अविशेषाद्विशेषारम्भः ॥ १ ॥

जिससे छोटी कोई वस्तु न होसके ऐसे भूतसूक्ष्म (पञ्चतन्मात्रा) से विशेष (स्थूल महाभूतों)का आरम्भ है क्योंकि सुखादिकों का अनुभव स्थूलभूतोंहीमें होता है और सूक्ष्मभूत तो सदैव योगिचित्तमें आभासित होते रहते हैं ॥ १ ॥

तस्माच्छरीरस्य ॥ २ ॥

जिन तेईस तत्वोंका वर्णन पूर्व करचुके हैं उन्हींसे स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंकी उत्पत्ति है। अब तेईसतत्वोंके बिना संसार की उत्पत्ति नहीं हो सकती है इसी आशयसे अगलेमें कहते हैं ॥ २ ॥ *

---

* पाठकोंको स्मरण रहे कि मनुष्यादिकोंके शरीरको शास्त्रकार स्थूल कहके पुकारते हैं, मन, बुद्ध्यादि और जिसके द्वारा सब इन्द्रिय अपने अपने कार्य्यमें प्रवृत्त होते हैं वह लिङ्ग शरीर कहाता है, अथच सूक्ष्म शरीर इस लिङ्ग शरीरका कारण है यह सब बातें वक्ष्यमाण सूत्रोंमें भली भांति जानी जावेंगी।

उपभोगादितरस्य ॥ ५ ॥

इतर जो अविवेक उसके उपभोगसे अर्थात् जब अविवेक का भोग पूरा होजाता है तब महाप्रलय होता है, जब अविवेकका भोगही शेष न रहा तब सूक्ष्म भूत इस शरीरको उत्पन्न ही क्यों करेंगे ? महाप्रलयावस्थामें कर्मका भोगही नष्ट होजाता हैं वासना तो बनीही रहेगी क्योंकि कर्मोंकी वासना प्रवाहसे अनादि है ॥ ५ ॥

तद्बीजात् संसृतिः ॥ ३ ॥

शरीरके कारण जो तेईसतत्व उन्हींसे संसारकी उत्पत्ति होती है। अब संसारकी अवधि भी कहते हैं ॥ ३ ॥

आविवेकाच्च प्रवर्त्तनमविशेषाणाम् ॥ ४ ॥

अविशेषकी (सूक्ष्म भूतोंकी सृष्टि) प्रवृत्ति तभी तक रहती है जब तक कि विवेक (ज्ञान) नहीं होता विवेक होतेही सूक्ष्म भूतोंकी प्रवृत्ति नहीं रहती। अब यह संदेह होता है कि यदि अविवेकी होके लिये सृष्टिका आरम्भ हो तो महाप्रलयमें भी सृष्टिका आरम्भ होना चाहिये क्योंकि वहां भी अविवेक बना रहता है। इसका उत्तर यह है कि ॥ ४ ॥

सम्प्रति परिमुक्तो द्वाभ्याम् ॥ ६ ॥

सृष्टिकालमें पुरुष दोनों (वासना और भोग) से बद्ध होता है। इस सूत्रका अर्थ जो विज्ञान भिक्षुने "पुरुषको देहके होते भी संसारमें भोग नहीं है" ऐसी अवतरणिका करके "संसारकालमें

पुरुष सुखं दुःखसे मुक्त है" ऐसा किया है• वह इस कारण अयुक्त है कि पूर्वाध्यायके सूत्रोंमें पुरुषको भोक्तृत्वादि विशेषण दे आये हैं तो यहां पर अभोक्ता कहना असङ्गत होगा, दूसरे संसारकालमें ही पुरुषको सुख दुःख न होगा तो क्या मुक्तावस्था में कहा जायगा ? और जो सुखदुःख ही नहीं तो मुक्तिका यत्न ही कौन करेगा ? तीसरे परिमुक्त शब्दका अर्थ मुक्तकरना भी असङ्गत है यहां परिमुक्त शब्दका अर्थ बद्ध करना उचित है। अब स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरोंके भेद कहते हैं ॥ ६ ॥

मातापितृजं स्थूलं प्रायश इतरन्न तथा ॥ ७ ॥

स्थूल शरीर दो प्रकारके होते हैं एक योनिज दूसरे अयोनिज, बहुतसी जगह स्थूलशरीर माता पितासे ही उत्पन्न होता है, और वर्षा आदि ऋतुओंमें अयोनिजभी स्थूलशरीर होता है जैसे वीरवहूटी दूसरा सूक्ष्म शरीर है वह माता, और पितासे उत्पन्न नहीं होता। पुरुषमें जो सुखदुःखादिक हैं वह स्वभावसे स्थूल, लिङ्ग, सूक्ष्म शरीरकी उपाधिसे हैं उसका निर्णय करते हैं ॥ ७ ॥

पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्य्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य ॥ ८ ॥

लिङ्ग शरीरकी उपाधिसेही पुरुषको सुखदुःखादि हैं क्योंकि सर्ग (संसार) की आदिमें लिङ्गशरीरकी उत्पत्ति है इससे सुखादिक इसके कार्य्य हैं तो एक लिङ्ग शरीरकी उपाधिसे ही पुरुष को सुखादिक हैं और स्थूल शरीरकी उपाधिसे नहीं क्योंकि जब स्थूल शरीर मृत होजाता है तब सुखादिका अभाव होता है—अव्यक्त सूक्ष्मशरीरका स्वरूप कहते हैं ॥ ८ ॥

सप्तदशैकं लिङ्गम् ॥ ९ ॥

५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, मन १, पञ्चतन्मात्रा—(रूप, रस, गन्ध स्पर्श, शब्द) अहङ्कार और एक बुद्धि यह सूक्ष्म शरीर है ॥ इस सूत्रका अर्थ विज्ञानभिक्षु इसतरह करते हैं कि सप्तदश(बुद्धि आदि सतरह)एक लिङ्ग शरीर है—उन्होंने अहङ्कारको बुद्धिके अन्तर्गत माना है वह इस कारण अयुक्त है कि अहङ्कार को बुद्धिके अन्तर्गत माना तो मन भी बुद्धिके अन्तर्गत माना जायगा फिर सोलह ही रह जायगें, पर वैसा नहीं हो सकता है—अब यह शंका होती है कि यदि लिङ्ग शरीर एक ही हो तो अनेक शरीरों की आकृतिमें भेद क्यों होता है ? इसका उत्तर यह है कि ॥ ९ ॥

व्यक्तिभेदः कर्म विशेषात् ॥ १० ॥

स्थूलशरीर अनेक तरहके अनेक कर्मोंसे है—इससे यह सिद्ध होता है कि जीवोंके भोगका हेतु कर्मही है। अब यहां यह शङ्का होती है कि भोगोंके स्थान लिङ्ग शरीरको ही शरीरत्व हो तो स्थूलको कैसे शरीर कहते हैं इसका उत्तर यह है कि ॥१०॥

तदधिष्ठानाश्रये देहे तद्वादात् तद्वादः ॥ ११ ॥

पञ्चभूतात्मक शरीरमें उस लिङ्ग शरीरका अधिष्ठान (रहनेकी जगह) के कारण देहवाद है। अर्थात् लिङ्ग शरीरका आश्रय-स्थूल शरीर होनेसे स्थूल शरीरको भी शरीर कहते हैं, जैसे

प्रेसके रहनेकी जगहको भी प्रेस कहते हैं । अब यह संदेह होता है कि स्थूलशरीर लिङ्ग शरीरसे जुदा है इसमें क्या प्रमाण है ? इसका उत्तर यह है कि ॥ ११ ॥

न स्वातन्त्र्यात् तदृते छायावच्चित्रवच्च ॥१२॥

वह लिङ्ग शरीर बिना किसी आश्रय के नहीं रहसकता है, जैसे बिना किसी आश्रयके किसी पदार्थकी छाया नहीं रहती किन्तु उस छायाका आधार अवश्य होना चाहिये, जैसे चित्र (तसवीर) बिना किसी आधारके नहीं खिंच सकता, इसी भांति स्थूलशरीर के बिना लिङ्ग शरीर नहीं ठहर सकता—अब यहां यह संदेह होता है कि यदि लिङ्गशरीर मूर्त्त द्रव्य है तो पवन आदिकी समान उसका भी आधार आकाश क्यों न मान लिया जाय, अन्यत्र कल्पना करनेसे क्या प्रयोजन है ? इसका उत्तर यह है कि ॥ १२ ॥

मूर्तत्वेऽपि न सङ्घातयोगात् तरणिवत् ॥१३॥

लिङ्ग शरीरके मूर्त्तत्व होने पर भी वह बिना किसी अवस्थानके नहीं रह सकता, जैसे सम्पूर्ण तेजोंका समुदाय बिना पार्थिव द्रव्य के अधारके नहीं ठहर सकता, इसी भांति लिङ्ग शरीरभी बिना किसी आधारके नहीं रह सकता अब लिङ्ग शरीरका परिमाण बताते हैं ॥ १३ ॥

अणुपरिमाणं तत् कृतिश्रुतेः ॥१४॥

वह लिङ्ग शरीर अणुपरिमाण अर्थात् ढका हुवा है अत्यन्त अणु नहीं है क्योंकि अत्यन्त अणु निरवयव होता है और लिङ्ग

शरीर सावयव है इसका कारण यह है कि इस लिङ्ग शरीरके कार्य्य सुनाई पड़ते हैं। इसी पक्षको पुष्ट करनेके निमित्त प्रत्युत्तर कहते हैं ॥ १४ ॥

तदन्नमयत्वश्रुतेश्च ॥१५॥

वह लिङ्ग शरीर अन्नमय है अतएव अनित्य है इसमें यह श्रुति प्रमाण है कि "अन्नमयं हि सोम्य ! मन, आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक् इत्यादि (हे सौम्य ! मन अन्नमय है,प्राण जलमय है, वाणी तेजमयी है) यद्यपि मन आदिक कार्य भौतिक नहीं हैं तोभी अन्यके संसर्गसे इनमें घटना बढ़ना दिखाई देता है इसी से मन को अन्नमय कहते हैं। अब यह सन्देह होता है कि यदि लिङ्ग शरीर अचेतन है तो उस की अनेक शरीरों के लिये उत्पत्ति क्यों है ?—इसका उत्तर यह है कि ॥ १५ ॥

पुरुषार्थं संसृतिर्लिङ्गानां सूपकारवद्राज्ञः ॥१६॥

लिङ्ग शरीर की उत्पत्ति पुरुष के लिये हैं जैसे रसोइयाका पाकशालमें जाना राजाके लिये है। वैसेही लिङ्ग शरीरका होना पुरुषके वास्ते है— लिङ्ग शरीर का सम्पूर्ण विचार कर चुके अब स्थूल शरीर कोभी कहते हैं ॥ १६ ॥

पाञ्चभौतिको देहः ॥१७॥

यह शरीर पांच भौतिक कहा जाता है * अन्यमत कहते हैं ॥ १७ ॥

---

* इसका विशेष विचार पञ्चम अध्यायमें करेंगे अतएव यहां सविस्तर नहीं लिखा।

चातुर्भौतिकमित्येके ॥१८॥

और कोई कहते हैं कि चार भूतोंका ही स्थूल शरीर है क्योंकि आकाश निरवयव है अतएव वह किसीके साथ विकाकारको प्राप्त नहीं हो सकता ॥१८॥

ऐकभौतिकमित्यपरे ॥१९॥

और कोई कहते हैं कि एक भौतिकही है। अर्थात् शरीर पार्थिव है और भूत सब नाम मात्र हैं, अथवा यों समझना चाहिये कि एक एक भूतके सब शरीर हैं अर्थात् मनुष्यादिके शरीरोंमें पार्थिवांश अधिक है अतएव इस शरीरको पार्थिवता और सूर्यलोक-वासियोमें तेज अधिक है इससे उनका शरीर तैजस है। अब इस सन्देहको दूर करते हैं कि देह स्वभावसे चैतन्य नहीं है ॥ १९ ॥

न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः ॥२०॥

जब पृथिव्यादि पञ्च भूतोंको पृथक् पृथक् करके देखते हैं तब उनमें चेतनता दिखाई नहीं पड़ती इसीसे सिद्ध है कि देह स्वभावसे चैतन्य नहीं है किन्तु किसी दूसरे (चैतन्य) के संसर्गसे चैतन्य है ॥ २० ॥

प्रपञ्चमरणाद्यभावश्च ॥२१॥

देहको स्वभावसे चैतन्य माननेमें एक दोष यह भी होगा कि प्रपञ्च, मरण, सुषुप्ति, आदि जुदी जुदी अवस्थायें नहीं हो सकेंगी, क्योंकि जो देह स्वभावसे चैतन्य है तो मृत्युकालमें

इसकी चैतनता कहां चला जाती है। पूर्व सूत्रमें जो यह कहा कि प्रत्येक भूतके पृथक् पृथक् करने पर चेतनता नहीं दिखाई देती इस पक्षको अगले सूत्रसें पुष्ट करते हैं ॥ २१ ॥

मदशक्तिवच्चेत् प्रत्येकपरिदृष्टे सांहत्ये तदुद्भवः ॥२२॥

यदि मदिराकी शक्तिके समान मानो जैसे कि अनेक पदार्थोंके मिलनेसें मादकता शक्ति उत्पन्न हो जाती है इसी भांति पांच भूतोंके मिलनेसे शरीरमें चैतन्य शक्ति उत्पन्न हो जाती हो तो इसका उत्तर यह है कि मदिरामें जो मादक शक्ति दिखाई पड़ती है वह उन पदार्थोंमेंभी है जिनसे मदिरा बनी है, अतएव यह दृष्टान्त ठीक नहीं हो सकता ; यदि यह कहोकि प्रत्येक भूतमें थोड़ी थोड़ी चेतनताथी और सब मिल कर बड़ी चेतनता हो गई तो इससे बहुतसी चैतन्य—शक्ति कल्पना करनेमें गौरव होगा, इस लिये एकही चैतन्यशक्ति माननी चाहिये। पहले जो यह कह आये हैं कि "लिङ्ग शरीर की संहति(सृष्टि) पुरुषके लिये है और लिङ्ग शरीरका स्थूल शरीरमें सञ्चारभी पुरुषके लिये है" उसका प्रयोजन अब कहते हैं जो कि अत्यन्त पुरुषार्थका हेतु है ॥ २२ ॥

ज्ञानान्मुक्तिः ॥२३॥

लिङ्ग शरीर जो बुद्धि आदि उनसे विवेक उत्पन्न होता है और विवेकसे मुक्ति होती है ॥ २३ ॥

बन्धोविपर्ययात् ॥ २४ ॥

विपर्य्यय जो अविवेक उससे सुखदुःखात्मक बन्ध होता है।

ज्ञान और अज्ञानसे मुक्ति और बन्ध कह चुके अब मुक्तिका विचार करते हैं ॥ २४ ॥

नियतकारणत्वान्न समुच्चयविकल्पौ ॥२५॥

ज्ञानहीसे मुक्ति होती है अतएव मुक्तिका नियत कारण ज्ञान है इससे मुक्तिमें ज्ञान और कर्म दोनों हेतु नहीं होसकते और न मुक्तिमें इसबातका विकल्प है कि 'ज्ञानसे मुक्ति हुई' वा 'कर्मसे' क्योंकि इसका तो ज्ञानही नियत कारण है । अब इसी बातको अगले सूत्रसे पुष्ट करते हैं ॥ २५ ॥

स्वप्नजागराभ्यामिव मायिकामायिकाभ्यां नोभयोर्मुक्तिः पुरुषस्य ॥२६॥

जैसे स्वप्न और जाग्रत् इन दोनोंमेंसे पहला तो झूंठा है और दूसरा सत्य है अतएव यह दोनों परस्पर विरुद्ध धर्मवाले होनेके कारण एक कालमें नहीं रहसकते इसी प्रकार ज्ञान और कर्मभी एककाल में नहीं रहसकते बस इसीसे सिद्ध होगया कि विरुद्ध धर्मवाले पदार्थ न तो मिल सकते हैं, और न मुक्तिका हेतु होसकते हैं, और न इस विषय पर विकल्प करना चाहिये कि 'किससे मुक्ति होती है' क्योंकि मुक्तिका नियत कारण ज्ञान है और "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः" (कर्मसे सन्तानसे धनसे त्यागसे किन्हींने अमृतत्व नहीं पाया है) इत्यादि श्रुतियां भी कर्मको मुक्तिका अहेतु प्रतिपादन करती हैं । अब यहां पर यह सन्देह होता है कि यदि कर्मका कुछभी फल नहीं तो उसका

करनाभी व्यर्थ है तब इस पर आचार्य्य मह सम्मति प्रकाशित करते हैं ॥ २६ ॥

इतरस्यापि नात्यन्तिकम् ॥२७॥

इतर अर्थात् कर्मका विशेष फल नहीं है किन्तु सामान्यही फल है इस सूत्रमें 'इतर' शब्दसे कर्मका ग्रहण इसलिये होसकता है, कि इस प्रकरणमें 'ज्ञानसे मुक्ति होती है कर्मसे नहीं' इसीका प्रतिपादन करते चले आते हैं अतएव ज्ञानके अतिरिक्त कर्महो का ग्रहण हो सकता है ; यदि यह कहाजावे कि ज्ञानके अतिरिक्त अज्ञानका ग्रहण क्यों न हो सोभी ठीक नहीं क्योंकि इस सूत्रमें आचार्य्यका "अपि" और "नात्यन्तिक" शब्द कहना कर्मके न्यून फलकाद्योतक है जब इतरसे अज्ञानका ग्रहण किया जावे तो यह अर्थ होगा कि "अज्ञानका थोड़ा फल है बहुत नहीं" इससे थोड़े फलका आकाङ्क्षी अज्ञानको ही उत्तम समझ सकता है अतएव ऐसा अनर्थ करना ठीक नहीं। इससे आचार्य ने कर्मको अपेक्षा ज्ञानको उत्तम प्रतिपादन किया है। योगीके सङ्कल्प सिद्ध पदार्थ भी मिथ्या नहीं है यह बात अगले सूत्रसे प्रतिपादन करते हैं ॥ २७ ॥

सङ्कल्पितेऽप्येवम् ॥ २८ ॥

योगीके सङ्कल्प किये हुए पदार्थ भी इसी प्रकार (अर्थात् सच्चे) हैं। अब यहां यह सन्देह होता है कि जब योगीके सङ्कल्पित पदार्थों का कोई भी कारण प्रत्यक्ष नहीं दीखता तो वह मिथ्याक्यों नहीं है ? तब इसका उत्तर यह है कि ॥२८॥

भावनोपचयाच्छुद्धस्य सर्वं प्रकृतिवत् ॥२९॥

प्राणायामादिकोंसे योगियोंकी भावना अर्थात् ध्यान अधिक होता है इसीसे सब पदार्थ सिद्ध हैं उनमें प्रत्यक्ष कारण देखनेकी आवश्यकता नहीं है ; क्योंकि हम लोगोंके समान योगियोंके सङ्कल्प मिथ्या नहीं होते, जैसे प्रकृति बिना किसीका सहारा लिये महदादिकों को करती है और उसमें प्रत्यक्ष कारण की आवश्यकता नहीं पड़ती इसी भांति योगीका ज्ञान भी जानना चाहिये। इन पूर्वोक्त सूत्रोंसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि ज्ञान ही मोक्षका साधन है अब ज्ञान किस प्रकार होता है इस बातको अगले सूत्रोंसे प्रतिपादन करते हैं ॥२९॥

रागोपहतिर्ध्यानम् ॥३०॥

रजोगुणके कार्य्य जो विषय वासनादिक ज्ञानके रोकनेवाले हैं उनका जिस हेतुसे नाश होजाय उसे ध्यान कहते हैं, यहां ध्यान शब्दसे धारणा ध्यान और समाधि तीनोंका ग्रहण समझ लेना चाहिये क्योंकि पातञ्जलमें योगके आठ अङ्गोंहीको विवेक साक्षात्में हेतुमाना है इनके अवान्तर भेदभी उसी शास्त्रमें विशेष मिलेंगे शेष पांच साधनोंको आचार्य्य स्वयं कहेंगे। अब ध्यानकी सिद्धिके लक्षणोंको कहते हैं ॥ ३० ॥

वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः ॥३१॥

जिसका ध्यान किया जावे उसके अतिरिक्त वृत्तियोंके निरोधसे, अर्थात् सम्प्रज्ञात * योगसे उसकी सिद्धि जानीजाती

* सम्प्रज्ञात योगका लक्षण व्यासजीने इस प्रकार कहा है कि—"साक्षात्कारयुक्ते काग्रकाले सम्प्रज्ञातयोगः" (साक्षात्कारसे युक्त एकाग्र अवस्थामें सम्प्रज्ञा योग होता है।)

है और ध्यान तबतकही करना चाहिये जबतक कि ध्येय (जिसका ध्यान किया जाता है) के सिवाय दूसरेकी, औरको चित्तवृत्ति न जावे। अब ध्यानके साधनोंको कहते हैं॥ ३१॥

धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः ॥३२॥

धारणा, आसन, और अपने कर्मसे ध्यानकी सिद्धि होती है। प्रथम धारणाका लक्षण करते हैं॥ ३२॥

निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम् ॥ ३३ ॥

छर्दि (वमन) और विधारण (त्याग) अर्थात् प्राणका पूरण, रेचन, और कुम्भकसे निरोध (वशमें रखने) को धारणा कहते हैं। यद्यपि इस सूत्रमें धारणा शब्दका उच्चारण आचार्य्यने नहीं किया तथापि अगले दो सूत्रोंमें आसन और स्वकर्मका लक्षण किया है इसी परिशेषसे इस सूत्रमें धारणा शब्दका अध्याहार कर लिया जाता है जैसे पाणिनिने भी लाघवके लिये 'लट्शेषे च' आदि सूत्र कहे हैं। अब आसनका लक्षण कहते हैं॥ ३३॥

स्थिरसुखमासनम् ॥ ३४ ॥

जो स्थिर होजाने पर सुखका साधन हो उसे आसन कहते हैं। जैसे स्वस्तिका (पालकी) आदि स्थिर होने पर सुखके साधन होते हैं तो वही आसन कहे जासकते हैं किसी विशेष पदार्थका नाम आसन नहीं है। अब स्वकर्मका लक्षण कहते हैं॥ ३४॥

स्वकर्म स्वाश्रमविहित-कर्मानुष्ठानम् ॥ ३५ ॥

जो कर्म अपने आश्रमके लिये विहित हैं उनके अनुष्ठान को स्वकर्म कहते हैं यहां पर कर्मशब्दसे यम, नियम, और प्रत्याहार इन * तीनोंका ग्रहण करना चाहिये क्योंकि इनका सबवर्णोंके लिये समान सम्बन्ध है और इनको योगशास्त्रमें योगका अङ्ग तथा ज्ञानका साधनभी लिखा है। अब और भी ज्ञान प्राप्तिके उपायोंको कहते हैं ॥ ३५ ॥

वैराग्यादभ्यासाच्च ॥ ३६ ॥

सांसारिक पदार्थोंके विराग अथवा धारणादि पूर्वोक्त तीन साधनोंके अभ्याससे ज्ञानकी प्राप्ति होती है, यहां चकार का अर्थ पूर्वार्थका समुच्चय, और आरम्भित जो "ज्ञानाम् मुक्तिः" इस विषयके प्रतिपादनकी समाप्तिके लिये है। इससे आगे "बन्धो विपर्य्ययात्" इस पर विचार आरम्भ करते हैं ॥ ३६ ॥

---

* इन तीनोंका लक्षण पातञ्जलमें इस प्रकार किया है कि— "तत्राहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्य्या परिग्रहा यमाः" २।३० उक्त आठों अङ्गोंमें से अहिंसा, सत्य, अस्तेय अर्थात् चोरी न करना ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह अर्थात् विषयोंका संग्रह न करना यम हैं॥ "शौच-सन्तोष तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः"। २। ३२। शुद्धि, सन्तुष्ट रहना, स्वकार्मानुष्ठान, वेदादिका पठन, ईश्वर भक्ति ये नियम कहाते हैं। "स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः" ॥ २। ५३ ॥ जिसमें चित्त इन्द्रियोंके सहित अपने विषयको त्याग कर ध्यानावस्थित हो जाय उसे प्रत्याहार कहते हैं।

विपर्ययभेदाः पञ्च ॥ ३७ ॥

अविद्या अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश यह पांच योगशास्त्रमें कहे हुए बन्धके हेतु विपर्य्यय (अज्ञान) के अवान्तर भेद हैं ; अनित्य, अशुचि, दुःख, और अनात्ममें, नित्य, शुचि सुख और आत्म बुद्धि करनेका नाम अविद्या है। जिसमें, आत्मा और अनात्माकी एकता मालूम पड़े "जैसे शरीरके अतिरिक्त और कोई आत्मा नहीं" यह बुद्धि होना अस्मिता है। राग, और द्वेषके तो लक्षण प्रसिद्ध ही हैं। मृत्युसे डरनेका नाम अभिनिवेश है यह पांचों बाते बद्धजीवमें होती हैं और इनका होना ही वन्धका हेतु है। अब बुद्धिको बिगाड़नेवाली अशक्तियोंके भेद कहते हैं ॥ ३७ ॥

अशक्तिरष्टाबिंशतिधा तु ॥ ३८ ॥

अशक्ति अट्ठाईस प्रकारकी है वह इस प्रकार है कि ग्यारह इन्द्रियोंके विघात होजानेसे ग्यारह प्रकारकी, और नो प्रकारकी तुष्टि तथा आठ प्रकारकी सिद्धि इनसे बुद्धिका प्रतिकूल होना यह सब मिलकर अठाईस प्रकारकी अशक्ति बुद्धिमें होती है। इन्द्रियोंका विघात इस भांति होता है कि कानसे सुनाई न देना, त्वचामें कोढ होना, आंखोंसे अन्धा होना इत्यादि ग्यारह इन्द्रियोंकी शक्तियोंका बिनष्ट होना तथा तुष्टि आदिके जो भेद जिस प्रकार कहे हैं उनसे बुद्धिका विपरीत होना अशक्तिका लक्षण है। जब तक बुद्धि में अशक्ति नहीं होती तब तक अज्ञान भी नहीं होता। अब तुष्टिके भेद कहते हैं ॥ ३८ ॥

तुष्टिर्नवधा ॥ ३९ ॥

तुष्टि नो प्रकारकी है। इसका पृथक् विवरण आचार्य्य आगे चलकर स्वयं करेंगे अतएव यहां व्याख्या करना व्यर्थ है ॥ ३९ ॥

सिद्धिरष्टधा ॥ ४० ॥

सिद्धि आठ प्रकारकी है। इसका विवरण भी आगे कहेंगे। अब पूर्वोक्त विपर्य्यय, अशक्ति, तुष्टि, और सिद्धिके भेदोंका विवरण अगले चार सूत्रोंमें करेंगे ॥ ४० ॥

अवान्तरभेदाः पूर्ववत् ॥ ४१ ॥

विपर्य्यय अर्थात् मिथ्याज्ञानके अवान्तर भेद जो सामान्यरीतिसे पूर्वाचार्य्योंने कहे हैं उन्हें उसी प्रकार समझलेना चाहिये यहां विस्तर भयसे नहीं कहे गये। अविद्यादिकोंके जितने भेद हैं उनका विशेष विवरण विस्तर भयसे हमने भी नहीं किया और यदि कहे जावें तो कारिका कारने अविद्याके बासठ भेद माने हैं जिसमें आठ आठ प्रकारका तम और मोह, दश प्रकारका महामोह, अठारह प्रकारका तामिस्र, और इतनेही प्रकारका अन्धतामिस्र, यह सब मिलकर बासठ प्रकार के हुए यदि इतने प्रकारके भेदोंकी जुदी जुदी व्याख्याकी जावे तो एक पोथा प्रस्तुत होसकता है परन्तु हमारी सम्मतिसे इतने भेद मानना और उनकी व्याख्या करना व्यर्थका झगड़ा है ॥ ४१ ॥

एवमितरस्याः ॥ ४२ ॥

इसी प्रकार अशक्तिके भी भेद पूर्वाचार्यों ने जैसे कहे हैं वैसेही विशेष समझना चाहिये ॥ ४२ ॥

आध्यात्मिकादिभेदान्नवधा तुष्टिः ॥ ४३ ॥

प्रकृति, उपादान, काल, और भाग्य यह चार प्रकारकी आध्यात्मक तुष्टि है और पांच प्रकारका बाह्य विषयोंसे उपराम होनेवाली तुष्टि है। इस प्रकार आध्यात्मिक आदि भेदोंसे तुष्टि नौ प्रकारकी हुई इसका विवरण इस प्रकार है कि "जो कुछ दिखाई पड़ता है वह सब प्रकृतिका ही परिणाम है और उसे प्रकृति ही करती है मैं कूटस्थ हूं" इस प्रकारकी प्रकृतिके सम्बन्धमें बुद्धि होनेका नाम प्रकृति तुष्टि है। और जो सन्यासी होकर आश्रम ग्रहण रूपी उपादानसे तुष्टि मानते हैं वह उपादान तुष्टि है। जो सन्यासी हो कर भी समाधि आदि अनुष्ठानोंसे बहुत समयमें तुष्टि मानते हैं उसे काल तुष्टि कहते हैं। और उसके उपरान्त धर्म्म-मेघ समाधिमें जो तुष्टि प्राप्त होती है उसे भाग्य तुष्टि कहते हैं। बाह्य पांच प्रकारकी तुष्टि इस प्रकार है कि माला, चन्दन, वनिता आदि की प्राप्त करनेमें दुःख होगा अतएव उन्हें त्यागना चाहिये यह एक प्रकारकी तुष्टि हुई, पैदा किया हुआ धन राजा या चोर छीनलेंगे एवं उसके क्षयमें बहुत दुःख होगा अतएव उसे त्यागना चाहिये यह दूसरी तुष्टि है, जो धनादिक है वह थोड़े ही प्रयत्नसे इकट्ठा किया हुआ वा रक्षा किया हुआ भोग करनेसे नष्ट होजायगा यह बिचार कर विषयोंसे उपराम होना तीसरी तुष्टि है, भोगके अभ्याससे

कामकी वृद्धि होती है और विषयकी अप्राप्तिमें कामियोंको दुःख होता है यह विचार कर भोगोंसे निवृत्ति होना, यह चौथी तुष्टि है, हिंसा वा दोषदर्शन आदिसे उपराम होजाना पांचवीं तुष्टि है। यह पांच प्रकारकी तुष्टियोंकी व्याख्या केवल उपलक्षण मात्रकी गई है इनकी अवधि यहीं तक न समझ कर इसी प्रकारकी औरभी तुष्टि इन्हीं पांच प्रकारकी तुष्टियोंमें परिगणित करलेना चाहिये। पूर्वोक्त चारप्रकारकी आध्यात्मिक तुष्टियों को व्याख्या किसी किसी कारिकाकी व्याख्या करनेवाले तथा महादेव वेदान्तीने इस प्रकारकी है कि विवेकका साक्षात्कार होना तो प्रकृतिका परिणाम ही है फिर ध्यानके अभ्यासकी क्या आवश्यकता ? इस प्रकारकी तुष्टि प्रकृति तुष्टि है, संन्यास ग्रहण परभी जब मुक्तिका काल आवेगा तभी मुक्ति होगी यह कालतुष्टि है, जब भाग्यमें लिखा होगा तभी मुक्ति होगी इस प्रकारकी तुष्टिका नाम भाग्यतुष्टि है, परन्तु उनलोगोंका यह व्याख्या करना युक्त नहीं है क्योंकि जब पूर्व यह बात कह चुके कि नो प्रकारको तुष्टियोंके विपरीत ज्ञानका नाम अज्ञान है तब इनकी व्याख्याकी हुई नो प्रकारकी तुष्टियोंके विपरीत जो होगा वह ज्ञानके अनुकूल होगा, अतएव अशक्तिके लक्षणमें जो कुछ आचार्यने कहा है वह व्यर्थ हो जायगा जैसे ध्यान आसनादि द्वारा ज्ञान प्राप्तकरके मोक्ष प्राप्त करना ज्ञानके अनुकूल है और केवल भाग्यसे मुक्ति मानना ज्ञानके विरुद्ध अज्ञान है और उस अज्ञानको महादेव प्रभृति तुष्टिमें गिनाते हैं तथाच "अशक्तिर-ष्टाविंशतिधा" इस सूत्रमें नवप्रकारकी तुष्टियोंसे विपरीत बुद्धि होना अशक्तिका लक्षण माना है और अशक्ति बन्धका हेतु है

अतएव जिस भांतिकी व्याख्या प्रकृति आदिसे महादेव आदिने की है वह कदापि ठीक नहीं होसकती ॥ ४३ ॥

ऊहादिभिः सिद्धिः ॥ ४४ ॥

ऊह, शब्द, अध्ययन, सुहृत्प्राप्ति, दान और तीनों प्रकारके दुःखों (अध्यात्मिक, अधिभौतिक, आधिदैविक) का नाश होना इस भांति आठ प्रकारकी सिद्धि होती है। ऊह—बिना किसीके उपदेशके पूर्वजन्मके संस्कारोंसे तत्वको अपने आप विचारनेका नाम ऊह है, दूसरेसे सुनकर वा अपने आप शास्त्रको विचार कर ज्ञानप्राप्त करलेनेका नाम शब्द है, शिष्य और आचार्य्यभावसे शास्त्र पढ़कर ज्ञानवान् होनेको अध्ययन कहते हैं, यदि कोई कारुणिक अपने घर परही उपदेश देने आया और उसी उपदेश से ज्ञान होगया यही सुहृत्प्राप्ति है, और धनआदि देकर ज्ञान-लाभ करना दान है। और तीनप्रकारके दुःखोंके विवरणको शास्त्रके आदिहीमें हम निरूपण करचुके हैं। अब यहां पर यह प्रश्न होसकता है कि ऊह आदिकोंसे ही सिद्धि क्यों मानी जाती है? क्योंकि बहुतेरे लोग तो मन्त्रोंसे अणिमादिक आठ सिद्धि मानते हैं तब क्या उनका सिद्धान्त मिथ्या होसकता है? इसका उत्तर यह है कि ॥ ४४ ॥

नेतरादितरहानेन विना ॥ ४५ ॥

ऊहादि पञ्चकके बिना मन्त्र आदिकों से सात्विकी सिद्धि प्राप्त नहीं होती, क्योंकि वह सिद्धि इतर अर्थात् विपर्यय ज्ञान के बिना भी प्राप्त होती है अतएव संसारिकी सिद्धि होनेके

कारण वह पारमार्थिकी नहीं कहला सकती॥ बस यहां तक समष्टि सर्ग और प्रत्यय सर्ग समाप्त होगया इससे आगे "व्यक्ति-भेदः कर्म विशेषात्" इस संक्षेपसें कहे हुए सूत्रको विशेष रूपसे प्रतिपादन करेंगे ॥ ४५ ॥

दैवादिप्रभेदा ॥ ४६ ॥

दैव आदि सृष्टिके प्रभेद हैं अर्थात् एक दैवी सृष्टि, दूसरी मनुष्योंकी सृष्टि है यहां दैव और मनुष्योंके कहनेसे यह न समझ लेना चाहिये कि देवता जैसे इतर जन मानते हैं वही हैं किन्तु विद्वानोंका नाम देव है और जो मिथ्या भाषण करते हैं वह मनुष्य हैं। किन्नर, गन्धर्व, पिशाच आदि यह सब मनुष्यों ही के प्रभेद हैं जैसा ही श्रुतिमें भी लिखा है कि "सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्याः" "विद्वाꣳसो हि देवाः" इत्यादि और महर्षिकपिल जी को भी यही अभीष्ट जैसा कि उन्होने आगे ५२ वें सूत्रमें प्रतिपादन किया है। अब सृष्टिका प्रयोग कहते हैं ॥ ४६ ॥

आब्रह्मस्तम्भपर्य्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात् ॥ ४७ ॥

ब्राह्मणों (विद्वानों) से लेकर स्थावरादि तक जितनी सृष्टि है वह सब पुरुष ही के लिये है और उसे भी (पुरुषको भी) विवेक होने तकही सृष्टि रहती है (उपरान्त, मुक्ति होनेसे) छूट जाती है। तीन सूत्रों से इस सृष्टिके विभाग कहते हैं ॥ ४७ ॥

ऊर्द्धं सत्त्वविशाला ॥ ४८ ॥

जो सृष्टि ऊपर है वह सत्व प्रधान है यहां पर ऊपर कहने से आचार्य्यका प्रयोजन भारतवर्षसे ऊपरका देश त्रिविष्टपके

कहनेसे प्रयोजन है जिस त्रिविष्टपका अपभ्रंश इन दोनों तिब्बत रह गया है वहांके लोग अब तक भी सात्विकी वृत्तिवाले हैं ॥ ४८ ॥

तमोविशाला मूलतः ॥ ४९ ॥

और जो नीचे के लोक हैं वह तमः प्रधान है, अर्थात् अमेरिका आदि देशके मनुष्य प्रायः तमोगुण युक्त होते हैं ॥ ४९ ॥

मध्ये रजोविशाला ॥ ५० ॥

और बीचमें जो लोक हैं वह रजो गुण प्रधान हैं। बीचका लोक यही भारत है, अन्य सब द्वीप इसकी अपेक्षा कोई ऊंचे और कोई नीचे हैं इसके वासी रजो गुण युक्त हैं, यह तो सब पर विदित ही है। अब यहां पर यह सन्देह होता है कि एक ही प्रकृति की अनेक भांति की सृष्टि क्यों होती है? इसका कारण यह है कि ॥ ५० ॥

कर्मवैचित्र्यात् प्रधानचेष्टा गर्भदासवत् ॥ ५१ ॥

यह सब प्रधान अर्थात् प्रकृतिकी चेष्टा कर्मोंकी विचित्रता से होती है जैसे कोई मनुष्य गर्भावस्था ही से दासत्व करे (अर्थात् दासीके उदरसे उत्पन्न हो) तो वह उसी भांतिके कर्म करेगा और अपने स्वामीके लिये उसकी अनेक भांति की चेष्टाएं रहेंगी, अतएव जो जैसा कर्म करेगा उसकी वैसी ही सृष्टि रहेगी ॥ ५१ ॥

आवृत्तिस्तत्राप्युत्तरोत्तरयोनियोगाद्धेयः ॥ ५२ ॥

उस (उपरके और नीचेके) देशमें भी आवृत्ति रहती है अर्थात् जब वहां गये तब सात्विकी वृत्ति रही, और यहां रहे तब वही रजो गुण आगया और वहां भी उत्तर उत्तर छोटी बड़ी जातियोंमें जन्म होनेसे ठीक सत्व नहीं रहता अतएव इस प्रकारका विचार करना सर्वथा त्यागने योग्य है। और भी इसी बातको पुष्ट करते हैं ॥५२॥

समानं जरामरणादिजं दुःखम् ॥ ५३ ॥

इस देशमें और वहां अर्थात् त्रिविष्टपमें जरा (बुढ़ापा) और मरने आदिका सब दुःख समानही है, यहां और वहां कुछभी विभेद नहीं अतएव उस देशकी प्राप्तिसे मुक्ति प्राप्तिको छोड़ना यह विचार त्याज्य है। अब यहां पर यह सन्देह होता है कि जिससे यह शरीर उत्पन्न हुआ है यदि उसीमें लय हो जाय तब क्या मुक्ति न हुई? इसका उत्तर यह है कि ॥ ५३ ॥

न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात् ॥ ५४ ॥

कारणमें लय हो जाने पर भी कृत कृत्यता नहीं होती क्योंकि जैसे जलमें डूबा हुआ मनुष्य कभी डूबता है कभी उछलता है इसी भांति जो कारणमें लय हो गया है वह कभी जन्म लेता है कभी मरता है एसा कहनेसे आचार्य्यका यह अभिप्राय नहीं है कि मुक्त जीव कभी जन्म नहीं लेता क्योंकि प्रथमतो आचार्य्य जीव को नित्य मानते हैं तब उसका कारण

ही नहीं फिर लय किसमें होगा। दूसरे जो डूबेका दृष्टान्त दिया वह अशान्तिका पोषक दिया, तथा इसमें पराधीनता सूचितकी किन्तु मुक्त जीव न तो अशान्त हैं, न पराधीन है, तीसरे यहां सृष्टिका प्रसङ्ग है न कि जीवका। अब यहां पर यह सन्देह होता है कि जब प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि हैं तो प्रकृतिहीमें सृष्टिका कर्त्तृत्व क्यों आरोपित किया जाता है? इसका समाधान यह है कि ॥५४॥

अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात् ॥ ५५ ॥

यद्यपि दोनोंही अकार्य अर्थात् नित्य हैं तथापि प्रकृतिको ही इसका (सृष्टिकर्तृत्वका) योग है क्योंकि जो परवश होगा वही कार्य करेगा। तो प्रकृतिही परवश है। अब कोई वादी इस बातका पूर्वपक्ष करता है कि ॥५५॥

स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता ॥ ५६ ॥

यदि प्रकृतिरूपी पदार्थ हो को सर्वज्ञ और सर्ववित् (विद् सत्तायाम्) सर्वशक्तिमान् मान लिया जावे तब क्या क्षति है? इसका समाधान इस प्रकार है कि ॥ ५६ ॥

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ॥ ५७ ॥

इस प्रकारकी ईश्वरकी सिद्धि वेदके प्रमाणोंसे सिद्ध है। सर्वज्ञादि गुणवाली प्रकृति कदापि नहीं हो सकती। अब यहां पर यह शङ्का होती है कि प्रकृतिने यह सृष्टि क्योंकी? इसका उत्तर है कि ॥ ५७ ॥

प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्रकुङ्कुम-
वहनवत् ॥ ५८ ॥

प्रकृतिकी सृष्टि दूसरेके (पुरुषके) लिये स्वतः है क्योंकि प्रकृति भोग नहीं कर सकती जैसे ऊंटका कुङ्कुमको लाद कर लेजाना दूसरेके लिये है एसे ही प्रधान अर्थात् प्रकृतिकी सृष्टि भी दूसरेके लिये है, इसमें शङ्का यह रहीकि ऊंटका जो दृष्टान्त दिया गया वह चेतन है और चेतनकी प्रवृत्ति दूसरेके लिये हो हो सकती है किन्तु जड़की नहीं, इस शङ्काको दूर करनेके निमित्त दूसरा दृष्टान्त कहते हैं कि ॥ ५८ ॥

अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य ॥५९॥

यद्यपि प्रकृति अचेतन अर्थात् जड़ है तथापि उसकी प्रवृत्ति दूसरेके लिये है जैसे दूध जड़ है परन्तु उसकी प्रवृत्ति चैतन्य बछड़ेके लिये है। तीसरा दृष्टान्त और भी कहते हैं ॥५९॥

कर्मवद्दृष्टेर्वा कालादेः ॥६०॥

जैसे कृषि कर्ममें बीज बोदिया जाता है और वह अपने कालके अनुसार वृक्ष आदि रूप धारण करके दूसरेके निमित्त फलादि देता है एसे ही प्रधानकी सृष्टि भी दूसरे ही के लिये जाननी चाहिये। यदि कोई यह कहे कि ऊंटतो मारनेके डरसे कुङ्कुमको लादे कर लेजाता है परन्तु प्रकृतिमें तो यह बात नहीं हो सकती तो इसका उत्तर यह है कि ॥ ६० ॥

स्वभावाच्चेष्टितमनभिसन्धानाद् भृत्यवत् ॥६१॥

जैसे चतुर नौकर अपने आपने मालिकका सब काम करता है और उसमें अपने स्वार्थका कुछ भी अभिसन्धान नहीं

करता है इसी भांति प्रकृतिभी अपने आप सृष्टि करती है पुरुषके भय प्रेरणादिकी अपेक्षा नहीं करती ॥६१॥

कर्माकृष्टेर्वानादितः ॥६२॥

अथवा कर्मोंके अनादि प्रवाहके वश होकर प्रकृति सृष्टिको करती है। अब इससे आगे सृष्टिकी निवृत्तिके कारणोंको कहेंगे ॥६२॥

विविक्तबोधात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके ॥६३॥

जब विवक्त बोध अर्थात् एकान्त ज्ञान हो जाता है तब प्रकृतिकी सृष्टि निवृत्त हो जाती है। जैसे रसोइया पाक करके निवृत्त हो जाता है फिर उसका कुछ काम नहीं रहता इसी भांति प्रकृतिभी विवेक ज्ञान उत्पन्न करके अपनी सृष्टिको निवृत्त कर लेती है। इस सूत्रका आशय यह है कि ज्ञान होनेसे संसार छूट जाता है। अब यह सन्देह होता है कि जब एकको ज्ञान हुआ और उससे सृष्टिकी निवृत्ति हो गयी तो फिर शेष जीव बद्ध क्यों रहते हैं? क्योंकि सृष्टिकी निवृत्तिमें बन्ध, न रहना चाहिये इसका समाधान इस प्रकार है कि ॥६३॥

इतर इतरवत् तद्दोषात् ॥ ६४ ॥

जो विवेक ज्ञान रहित है वह बँधेके समान ही रहता है क्योंकि अज्ञानके दोषसे बँधा रहना ही पड़ता है। अब सृष्टि निवृत्तिका फल कहते हैं ॥ ६४ ॥

द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः ॥६५॥

दोनों अर्थात् प्रकृति और पुरुष इनकी आपसमें उदासीनता हो जाना ही अपवर्ग अर्थात् मुक्ति है। इस सूत्रका अर्थ इस प्रकारभी हो सकता है कि विवेकवान् और अविवेकी इन दोनोंमें से एकके निमित्त प्रकृतिकी उदासीनता ही को अपवर्ग कहते हैं। यह दोनोंही अर्थ युक्त हैं क्योंकि किसीसे भी सिद्धान्तकी हानि नहीं होती। यहां पर यह सन्देह होता है कि जब विवेकके कारण प्रकृति पुरुषको मुक्त कर देती है तो और भी पुरुष विवेकसे मुक्त हो जावेंगे एसा विचार कर प्रकृति विवेकके डरके मारे सृष्टि करनेसे विरक्त क्यों नहीं होती? इसका समाधान यों है कि ॥ ६५ ॥

अन्यसृष्ट्युपरागेऽपि न विरज्यते प्रबुद्धरज्जुतत्त्वस्यैवोरगः ॥६६॥

यद्यपि प्रकृति एक पुरुषके ज्ञानयुक्त होनेसे उसके लिये सृष्टिसे विरक्त होजाती है तथापि दूसरे (अविवेकी)के लिये सृष्टिसे प्रकृति विरक्त नहीं होती, क्योंकि जैसे किसी मनुष्यको प्रथमतो रज्जुमें सर्पकी भ्रान्ति होनेके कारण भय हो और उपरान्त वह भय यथार्थ ज्ञानसे (रज्जु जाननेसे) निवृत्त होजाता है तब वह रज्जु उस ज्ञानवान्को भय नहीं देती किन्तु जो अज्ञानी है उसे तो सर्पभ्रान्तिसे भय उत्पन्न करती ही है इसी भांति प्रकृतिकी भी व्यवस्था है कि जो विवेकी है उसके लिये तो उसकी सृष्टि नहीं है किन्तु दूसरेके लिये है ॥ ६६ ॥

कर्मनिमित्तयोगाच्च ॥६७॥

सृष्टिके प्रवाहमें जो कर्म हेतु हैं उनके कारण भी प्रकृति सृष्टि करनेसे विरक्त नहीं होसकती और मुक्त पुरुषके कर्म छूट जाते हैं अतएव उसके लिये सृष्टि निवृत्त होजाती है। अब रहा यह सन्देह कि जब सब पुरुष समान और निरपेक्ष हैं तो किसीके लिये प्रकृति—सृष्टिकी निवृत्ति और किसीके लिये प्रवृत्ति हो, इसमें क्या नियम है यदि यह कहा जावे कि कर्मका प्रवाह ही इसमें नियामक है तोभी युक्त नहीं क्योंकि किस पुरुषका कौनसा कर्म है यह भी कोई निर्धारित नियम नहीं है इसका समाधान यह है कि ॥ ६७ ॥

नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्युपकारेऽविवेको निमित्तम् ॥६८॥

यद्यपि सब पुरुष (जीव) निरपेक्ष हैं अर्थात् एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते तथापि 'यह मेरा स्वामी मैं इसका सेवक' इस प्रकार प्रकृतिके उपकारमें (सृष्टि करनेमें) अविवेक ही निमित्त है। इस सूत्रका आशय यह है कि जब प्रकृति यह चाहती है कि 'यह पुरुष मुक्त हो' तभी उसे अपनी सृष्टिके अन्तर्गत रखके अनेक प्रकारके कार्य्यों में संलग्न करती है और उन्हीं कार्य्यों को करता हुआ वह पुरुष किसी न किसी जन्ममें ज्ञानी होकर मुक्त हो ही जाता है इसीसे आचार्य्यने सूत्रमें उपकार शब्दका प्रयोग किया है। यदि कोई वादी यह आक्षेप करे कि जब प्रकृतिका स्वभाव प्रवर्त्तन मान लिया हैं तो विवेकके उत्पन्न होने पर क्यों निवृत्त होजाती है क्योंकि जो जिसका

स्वाभाविक धर्म है, वह सब जगह एकसा रहना चाहिये ? तो इसका समाधान इस दृष्टान्तसे होसकता है कि ॥ ६८ ॥

नर्तकीवत् प्रवृत्तस्यापि निवृत्तिश्चारितार्थ्यात् ॥६९॥

जैसे नर्तकी (नाचकरनेवाली) का यद्यपि नाचना स्वभाव है और वह सभाको नृत्य दिखाती है तथापि जब नृत्य करते करते उसका अभिप्राय चरितार्थ (पूरा)होजाता है तब वह नृत्य करनेसे निवृत्त होजाती है, इसी भांति प्रकृतिका यद्यपि सामान्यत: सृष्टि करना स्वभाव है परन्तु उस सृष्टि करनेका जो प्रयोजन है वह विवेकके उत्पन्न होनेसे निवृत्त होजाता है अतएव उससे निवृत्त भी होजाती है । अब मुक्तिसे पुनरागमन होता है, वा नहीं, इस पर यहां इस कारण विचार किया जाता है कि इस ऊपरके सूत्रमें विवेकके उपरान्त सृष्टिकी निवृत्ति प्रतिपादन करचुके, इसपर यह सन्देह होसकता है कि जब प्रकृति यह समझ लेती होगी कि पुरुषको मेरे संसर्गसे अनेक दु:खादि होते हैं अतएव फिर उसका संसर्ग किसी कालमें भी न करना चाहिये तो इसी मत पर आचार्य्य समालोचना करते हैं कि ॥ ६९ ॥

दोषबोधेऽपि नोपसर्पणं ? प्रधानस्य कुलबधूवत् ॥७०॥

"पुरुषको मेरे साथसे दु:ख होगा" इस बातमें प्रकृति अपना दोष जानती है तोभी क्या फिर उसका संसर्ग नहीं करती ? * किन्तु अवश्य ही करती है, जैसे कुलबधूसे यदि कोई दोष हो

* यहां काकुन्याय है ।

जाय और उससे स्वामीको कष्ट पहुंचे तब क्या वह अपने पतिके पास न जावेगी ? किन्तु अवश्य ही जावेगी, क्योंकि जो पतिको त्यागदे वह कुलबधू नहीं होसकती। इस सूत्रका अर्थ विज्ञान भिक्षु और महादेव नवीन वेदान्तीने इस प्रकार किया है कि "जब प्रकृति अपना दोष जानलेती है तब लज्जाकी मारी फिर कभी पुरुषके समीप नहीं जाती" जैसे कि "कुलबधू नहीं जाती" इस अर्थ करनेसे उनका तात्पर्य्य यह है कि मुक्तिसे पुनरावृत्ति नहीं होती परन्तु यह अर्थ करना उनका ठीक नहीं है क्योंकि अज्ञानभिक्षुजीने 'अपि' शब्दका कुछभी आशय नहीं निकाला और न यह समझा कि जो अपने दोषसे पतिको छोड़ बैठे वह कुलबधू क्यों कर होसकती है? कुलबधू वही होती है जो अपने दोषकी क्षमा मांग कर पतिको त्याग न करे, किन्तु उन दोनों टीकाकारोंने इस दृष्टान्तके गूढ़ अभिप्रायको बिना समझे वैसा लिख मारा वह योग्य नहीं। इसके अतिरिक्त यदि आचार्य्यको यही अभीष्ट होता कि मुक्तिसे पुनरावृत्ति नहीं होती तो इससे पूर्व सूत्रमें वह बात एक दृष्टान्त द्वारा प्रतिपादित हो ही चुकी थी फिर यह सूत्र बनाकर पुनरुक्ति क्यों करते ? इसी ज्ञापकसे सिद्ध है कि मुक्तिसे पुनरावृत्ति होती है परन्तु इस पुनरुक्तिको अज्ञानभिक्षु और महादेव दोनों ही नहीं समझे। पुरुषका बन्ध वा मोक्ष किससे होता है इसे विचारते हैं ॥ ७० ॥

नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते ॥७१॥

पुरुषका बन्ध अथवा मोक्ष स्वाभाविक नहीं है किन्तु अविवेक होनेके कारण है ॥ ७१ ॥

प्रकृतिराञ्जस्यात् ससङ्गत्वात् पशुवत् ॥७२॥

जब विचार किया जाता है तो विदित होता है कि प्रकृति का संसर्ग पुरुषको रहता है उसीसे पुरुषका बन्ध है, प्रकृतिका संसर्ग छूट जानाही मोक्ष है, जैसे पशु रज्जुके संसर्गसे बँध जाता है और उसका संसर्ग छूट जानाही मुक्त हो जाता है इसी भांति पुरुषको भी जानना चाहिये। अब यह सन्देह होता है कि प्रकृति किन साधनोंसे बन्धन करती है और कैसे मुक्त करती है इसका उत्तर यह है कि ॥ ७२ ॥

रूपैः सप्तभिरात्मानं बध्नाति प्रधानं कोशकार-
वद्विमोचयत्येकरूपेण ॥ ७३ ॥

धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य्य इन सात रूपोंसे प्रकृति पुरुषका बन्धन करती है जैसे तलवार के म्यान बनानेवालेकी कारीगरीसे तलवार ढकी रहती है इसी भांति प्रकृतिसे पुरुषको समझना चाहिये और वही प्रकृति एक रूपसे अर्थात् ज्ञानसे आत्माको दुःखसे मुक्त कर देती है। अब यहां पर यह संदेह होता है कि जब मुक्तिमें हेतु ज्ञान कहा और धर्मादिक सब बन्धन के हेतु गिनाये तो धर्म में क्यों किसीकी प्रवृत्ति होगी? और क्यों ध्यानादिके लिये उपाय किया जावेगा? तो इसका समाधान इस प्रकार है कि ॥७३॥

निमित्तत्वमविवेकस्य न दृष्टहानिः ॥७४॥

मुक्ति न होनेमें अविवेक निमित्त है अतएव उसकी निवृत्ति होके लिये यत्न करना चाहिये और उस यत्नमें धर्मानुष्ठान

आदि चित्त शोधक कर्मभी परिगणित हैं अतएव उनकी हानि नहीं होसकती क्योंकि बिना धर्म—ध्यान आदि किये कोई ज्ञानवान् हो ही नहीं सकता। विवेक कैसे होता है उसका उपाय कहते हैं ॥ ७४ ॥

तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद्विवेकसिद्धिः ॥७५॥

देह आत्मा नहीं है, पुत्र आत्मा नहीं है, इन्द्रिय आत्मा नहीं है, मन आत्मा नहीं है,इस प्रकार नेतिनेति करके त्यागसे और तत्वका अभ्यास करनेसे विवेककी सिद्धि हो जाती है इसी आशयको पुष्ट करनेवाली एक श्रुति भी है "अथात आदेशो-नेतिनेतीति त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" ॥ ७५ ॥

अधिकारिप्रभेदान्न नियमः ॥ ७६ ॥

कोई मन्द बुद्धि होता है, कोई तीक्ष्ण बुद्धि होता है, अतएव एकही जन्ममें सबको विवेक ज्ञान हो जावे यह नियम नहीं है किन्तु उत्तम अधिकारी एक जन्ममें भी विवेकी होसकता है ॥ ७६ ॥

बाधितानुवृत्त्या मध्यविवेकतोऽप्युपभोगः ॥७७॥

जिसको * विवेक होगया है उसे भी कर्मोंका उपभोग करनाही पड़ता है- क्योंकि यद्यपि कर्म एकबार बाधितभी कर

---

* मध्येविवेको यस्य स मध्यविवेकः पुरुषस्तस्मिन् मध्यविवेकतः 'सार्वविभक्तिकस्तसिल्' बाधिता विवेकेन दूरीकृता प्रारब्धादि कर्म-विशेषास्तेषामनुवृत्त्या पुनरावृत्त्येतिभावः।

दिये जाते हैं तो भी उनकी अनुवृत्ति होती है। प्रारब्ध आदि संज्ञावाले कर्म सर्वथा बिनष्ट नहीं होते इस सूत्रमें भी आचार्यने मुक्तिसे पुनरावृत्ति मानी है ॥ ७७ ॥

जीवन्मुक्तश्च ॥ ७८ ॥

जो विवेक होजाय तो इस शरीरके रहतेभी मुक्त हो सकता है उसे जीवन्मुक्त * कहते हैं। उस जीवन्मुक्त होनेका उपाय कहते हैं ॥ ७८ ॥

उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः ॥७९॥

जब शास्त्रोंको गुरुके समीप शिष्य बनके पढ़ेगा और उसमें विवेक करके पढ़नेसे विवेककी उत्पत्ति हो जावेगी तो जीवन्मुक्त होना सहज है। बिना उपदेशकके जीवन्मुक्त नहीं हो सकता इसे श्रुतिभी प्रतिपादन करती है इस आशयसे कहते हैं कि ॥ ७९ ॥

श्रुतिश्च ॥ ८० ॥

"तद्विज्ञानार्थं सगुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्म-निष्ठम्। तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय येनाक्षरं पुरुषं वेदसत्यं प्रोवाच तान्तत्वतो-ब्रह्मविद्याम्" ॥ इसका अर्थ यह है कि उससत्य विज्ञानके लिये वह 'समित्पाणि' अर्थात् हाथजोड़ अरिक्तहस्त होकर वेदवित् ब्रह्मनिष्ठ परमात्माको जाननेवाले गुरुके पास जावे। जब ऐसा जिज्ञासु विद्वान्के पास जाय, शान्तचित्त जितेन्द्रिय समीप प्राप्त

* जीवन्नपि मुक्तइव इति जीवन्मुक्तः

जिज्ञासुको यथार्थ ब्रह्मविद्या परमात्माके गुणकर्म स्वभावका उपदेश करे और जिससे वह श्रोता परमात्माको प्राप्त होसके। इस प्रकार की अनेक श्रुतियां इस विषयको पुष्ट करनेवाली पाई जातीं हैं ॥ ८० ॥

इतरथान्धपरम्परा ॥ ८१ ॥

जो ज्ञानवान् गुरुसे उपदेश न लिया जावे किन्तु मूर्खोंसे लिया जावे तो अन्धपरम्परा हो जावेगी। जैसे एक अन्धेके पीछे सब अन्धे कुएमें गिरते चले गये इसी भांति मूर्खके पीछे मूर्ख ही रहते जावेंगे। अब यह संदेह होता है कि जब ज्ञानसे कर्म निवृत्त होजाते हैं तो फिर शरीर क्यों रहता है और उसकी जीवन्मुक्त संज्ञा किस प्रकार होती है इसका समाधान यह है कि ॥ ८१ ॥

चक्रभ्रमणवद्धृतशरीरः ॥८२॥

जैसे कुलालका चक्र ऊपरसे घट सरावा आदि बनकर उतर आने परभी कुछ देरतक अपने आप पहले वेगसे घूमता रहता है इसी भांति ज्ञानके उत्पन्न होते ही यद्यपि नये कर्म उत्पन्न नहीं होते तो भी प्रारब्ध कर्मोंके वेगसे शरीरको धारण किये हुए जीवन्मुक्त रहता है। अब यह संदेह होता है कि यद्यपि चक्रके भ्रमणमें दण्डकी क्रियाका, अभाव है तो भी वह पूर्व संस्कारसे चलता है किन्तु जब जीवन्मुक्तके सब रागादिक नष्ट होजाते हैं तो वह उपभोग किसके सहारेसे करता है इसका समाधान यों है कि ॥ ८२ ॥

संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः ॥८३॥

राग आदिके संस्कारकाभी लेश रहता है उसीके सहारेसे उपभोगकी सिद्धि जीवन्मुक्तको हो जाती है वास्तविक राग जीवन्मुक्तको नहीं रहते। यह सब जीवन्मुक्तके सम्बन्धमें कहा, अब विना देहकी मुक्तिके लिये अपना परम सिद्धान्त कह कर अध्याय समाप्त करते हैं ॥ ८३ ॥

विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात् ॥ ८४ ॥

विवेकही से सब दुःखनिवृत्ति हो जानेसे जीव कृतकृत्य होता है दूसरे से नहीं होता। नहीं होता, पुनरुक्ति पक्षपुष्टि और अध्याय समाप्तिके लिये हैं ॥ "इतरस्मात्" ऐसा होना चाहिये था परन्तु आचार्यने "इतरात्" ऐसा कहा है उसे यों ठीक समझना चाहिये कि "संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः" इस परिभाषासे वा वैदिक प्रयोग मानकर शुद्ध जानना उचित है।

इति सांख्यदर्शने तृतीयोऽध्यायः।

—०—

अथ-चतुर्थोऽध्यायः।



इस अध्यायमें विवेक ज्ञानके साधनोंका वर्णन किया जावेगा।

राजपुत्रवत् तत्त्वोपदेशात् ॥ १ ॥

पूर्व सूत्रसे यहां विवेककी अनुवृत्ति आती है। जैसे किसी राजाका पुत्र भीलोंके साथ रहनेसे अपनेको भीलमानता था, परन्तु जब उसको यह उपदेश दिया गया कि तू राजाका पुत्र है तब उसे अपने कुल और वंशका विवेक होते ही उस भावसे निवृत्त होगया इसी भांति चिरबद्ध जीवभी अपनेको बद्धमानता है किन्तु जब तत्वोपदेशसे उसे ईश्वर ज्ञान होगा तब विवेकोत्पत्तिसे मुक्तिको प्राप्त होगा। इस सूत्रके अर्थसे कोई कोई टीकाकार "ब्रह्मास्मि" वाला सिद्धान्त निकालते हैं कि जीव प्रथम ब्रह्म था और अतएव मुक्त था, किन्तु अज्ञानसे बँध गया जब तत्वोपदेश हुआ तो विवेक होकर मुक्ति हो गयी, परन्तु यह उनका मानना ठीक नहीं है क्योंकि प्रथम तो आचार्य ग्रन्थारम्भहीमें इस सिद्धान्तका खण्डन कर चुके हैं, दूसरे जो सूत्रमें राजपुत्र शब्द कहा है उससे जाना जाता है कि आचार्य्य, जीव और ब्रह्ममें प्रभेद मानते हैं अतएव जीवको छोटा मान कर राजपुत्रवत् कहा है नहीं तो 'राजवत्' ही कह देते किन्तु दो अक्षरों का अधिक उच्चारण इसी आशयसे है कि कोई एक ब्रह्मके रूपान्तरका अर्थ न समझ ले॥ १ ॥

पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि ॥ २ ॥

एकके लिये जो उपदेश किया जाता है उससे दूसराभी मुक्त हो जाता है जैसे आचार्य्य शिष्यको उपदेश करता था उस समय पिशाच भी सुन रहा था वह उपदेश सुनकर उसेभी विवेक हो गया। इस सूत्रसे सिद्ध होता है कि पिशाचभी मुक्तिका अधिकारी है और उसेभी एक जन्ममें विवेक उत्पन्न हो सकता है तब जो लोग ऐसा नहीं मानते उन्हें आर्ष सिद्धान्तानभिज्ञ कहना चाहिये ॥ २॥

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ ३ ॥

यदि एकबारके उपदेशसे विवेकको उत्पत्ति न हो तो उपदेशकी आवृत्ति करनी चाहिये अर्थात् फिर उपदेश सुनना चाहिये क्योंकि छान्दोग्यमें लिखा है कि 'श्वेतकेतुके लिये आरुणि आदि मुनियोंने बार बार उपदेश किया है' ॥ ३ ॥

पितापुत्रवदुभयोर्दृष्टत्वात् ॥४॥

विवेकके द्वारा प्रकृति और पुरुष दोनों ही दीखते हैं जैसे "कोई मनुष्य अपनी गर्भिणी स्त्रीको छोड़ कर विदेश चला गया था जब तक वह आया तब तक वह पुत्र जन्म लेकर बड़ा हो गया, किन्तु वह अपने पिताको नहीं पहचानता था और न पिता यह जानता था कि यही मेरा पुत्र है परन्तु बालककी माताने दोनोंको बताया कि यह तेरा पुत्र है और पुत्रको बताया कि यह तेरा पिता है" इसी भांति विवेक भी प्रकृति और पुरुषका बोधक है ॥ ४ ॥

श्येनवत् सुख-दुःखी त्यागवियोगाभ्याम्॥५॥

सर्व संसारका नियम है कि द्रव्यकी प्राप्तिसे सुखी और उस के चले जानेसे दुःखी होता है जैसे "श्येन (बाज) किसी पक्षी को मारकर मांस लिये जाता है इसी अवसरमें उसे किसीमांस-लुब्धकने पकड़ लिया और उससे मांस छीना तो वह दुःखी होता है; और यदि वह स्वयं ही उसे छोड़ देतो सुखी रहता है" अतएव स्वतः ही छोड़ना चाहिये इसी सूत्रके आशयको समझ कर राजर्षि भर्तृहरिनेभी कहा है कि—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया, वियोगे को भेद-स्त्यजति न जनो यत् स्वयममून् । व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुल परि-तापाय मनसः, स्वयन्त्यक्ताह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥ ५ ॥

अर्थ ॥ यह सब विषय बहुत दिनों तक रह करभी अवश्य विनष्ट होंगे फिर वियोगमें क्या संदेह है ? जो पुरुष इन्हें अपने आप नहीं छोड़ता (अब यह सन्देह होता है कि जब उनका नष्ट होनेका स्वभाव है को स्वतः नष्ट होजावेंगे फिर क्यों छोड़े ? उसके लिये कहते हैं कि) यदि अपने आप विषय नष्ट हुए तो मनको बहुत कष्टके हेतु होंगे और यदि इनका त्याग अपने आप मनुष्य करदे तो शान्ति सुखके देनेवाले हैं ॥ ५ ॥

अहिनिर्ल्वयिनीवत् ॥६॥

"जैसे सर्प कांचलीको छोड़ देता है" इसी भांति मुमुक्षुको भी विषयोंका त्याग विवेकोदयमें हो जाता है ॥६॥

छिन्नहस्तवद्वा ॥ ७ ॥

अथवा जैसे "किसी मनुष्यका हाथ कटके गिर पड़े और

वह मनुष्य फिर उस कटे हुए हाथको नहीं उठाता" इसी भांति विवेककी प्राप्तिसे जो विषय वासना नष्ट हो गयी है उसे मुमुक्षु (मोक्षकी इच्छा करनेवाला) फिर ग्रहण नहीं करना ॥ ७ ॥

असाधनानुचिन्तनं बन्धाय भरतवत् ॥८॥

जो मोक्षका साधन नहीं है और उसे किसीने धर्म्ममें परिगणित करके साधन बता दिया है तो उसका अनुचिन्तन केवल बन्ध हीका निमित्त होगा न कि मोक्षका ॥ जैसे "राजर्षि भरत यद्यपि मुमुक्षुथे परन्तु उन्हें किसीने हरिणका वच्चा जिसके कि (मातापिता मरगये थे) पालन पोषणके लिये देदिया तो उसका पालन पोषण करनेमें भरतका विवेक प्राप्तिका समय नष्ट हो गया और मुक्ति न हुई ॥ यद्यपि अनाथ दीन हरिण शावकका पोषण राजाका धर्म्म था तथापि वह विवेकका भुलानेवाला होनेके कारण बन्धका हेतुही रहा" ॥ ८ ॥

बहुभिर्योगे विरोधो रागादिभिः कुमारीशङ्खवत् ॥९॥

विवेकका साधन एकलेही अच्छी भांति होता है और जो बहुतोंके बीचमें किया जावेतो राग द्वेषादिके कारण विरोध उत्पन्न होता ही है। जैसेकि "किसी कुमारीके हाथमें चूड़ीं थीं और वह एक दूसरीसे टकरा कर झणत्कार शब्द करतीं थीं" इसी भांति बहुतोंके सङ्गमें भी विवेकका चिन्तन नहीं होता अतएव अकेले ही करना चाहिये ॥ ९ ॥

द्वाभ्यामपि तथैव ॥१०॥

दोके साथभी राग द्वेषादिके कारण विरोध होना सम्भव है

अतएव अकेलेही विवेक चिन्तन करना चाहिये ऐसा ही किसी कविने कहाभी है कि "वासे बहूनां कालहो भवेद्वार्त्ता द्वयोरपि। एक एव चरेत् तस्मात् कुमार्या इव कङ्कण:" बहुतोंमें लड़ाई होना सम्भव है दो होने परभी बातचीत हो कर समय नष्ट हो जाता है अतएव अकेला रहना चाहिये जैसे कुमारीका कङ्कण ॥१०॥

निराशः सुखी पिङ्गलावत् ॥११॥

जो पुरुष आशाका त्याग कर देता है वह सदैव सुखी रहता है जैसे कि "पिङ्गला नामक वेश्या जारपुरुषकी अभिलाषा से बहुत काल तक बाजारमें बैठी रही फिर जाकर सोरही फिरभी इस आशाने कि शायद कोई जार मेरे समीप आवे उसे न सोने दिया और जारकी प्रतीक्षा बहुत रात्रि तक करती रही अन्तको उसने जब यह आशा नष्ट करदी अर्थात् यह निश्चय कर लिया कि अबसे आगे कभी जारकी प्रतीक्षा वा आशा न करूंगी तभी उसने सुख पूर्वक जाकर शयन किया" इसी भांति यदि पुरुषभी आशाको छोड़ देतो सन्तोषको पाकर सुखी रहे ॥ ११ ॥

अनारंभेऽपि परगृहे सुखी सर्पवत् ॥१२॥

गृहादिक बिना बनाये भी पराये घरमें सुख पूर्वक रह-सकता है जैसे कि "सर्प कभी विवर नहीं खोदता तोभी वह सुखी रहता है" इस सूत्रका यह आशय कदापि नहीं है कि गृहादिकों को कदापि न बनवाना चाहिये किन्तु 'अपि' शब्द

का प्रयोग इस आशयका द्योतक है गृहादिक बनाने तो चाहिये ही, किन्तु बिना बनाये भी सुखी रह सकता है, जैसे कि सर्प रहता है ॥ १२ ॥

बहुशास्त्रगुरूपासनेऽपि सारादानं षट्पदवत् ॥१३॥

बहुतसे शास्त्रोंमें से और गुरुकी सेवासे भी जो सारवस्तु है अर्थात् जिससे विवेक उत्पन्न होता है उसीको ग्रहण करना चाहिये जैसे "षट्पद (भौंरा) फूलोंसे पराग ग्रहण करलेता है" इसी भांति सारग्रहण करना उचित है ॥ १३ ॥

इषुकारवन्नैकचित्तस्य समाधि-हानिः ॥१४॥

जिसका चित्त एकाग्र रहता है उसकी समाधिमें कदापि हानि नहीं होती जैसे "इषुकार (बाणबनानेवाला) बाणबनाते समय यदि उसके पास होकर सेना समेत राजाभी निकल जाय तोभी उसके कार्य्यमें हानि नहीं होती और कार्य्यमें चित्त लगा रहनेके कारण उसे राजाका जाना विदित भी नहीं होता" ॥ १४ ॥

कृतनियमलङ्घनादानर्थक्यं लोकवत् ॥ १५ ॥

शौच, आचार आदि जो नियम विवेककी सिद्धिके लिये अङ्गीकार कर लिये हैं उनके लङ्घनसे(उचित रीति पर पालन न करनेसे) अनर्थ होता है अर्थात् उन नियमोंका फिर कुछभी फल हाथ नहीं लगता जैसे लोकमें देखा जाता है कि "कोई रोगी वैद्यके बताये हुए खान पानादिके नियमको पालन न करे तो उसके लिये लाभके बदलेमें उलटा, अनर्थ ही होता है" ॥ १५ ॥

तद्विस्मरणेऽपि भेकीवत् ॥१६॥

जो तत्वज्ञानको भूल जाय तो उसे दुःख प्राप्त होता है जैसे कि "भेकीके कथनको भूंलनेसे राजाको हुआ था, इसका विवरण यों है कि एक राजाने किसी रूप-सम्पन्ना कुमारीको देख कर पूछा कि तू कौन है उसने कहाकि मैं राजकन्या भेकी नाम्नी हूं तब राजाने उसे अपनी स्त्री होजानेके लिये कहा तो उसने राजासे कहाकि मैं जल देखतेही चली जाऊंगी अतएव मुझे जल कदापि न दिखाना इस नियमसे मैं तेरी पत्नी होती हूं यह बात राजाने स्वीकार करली किन्तु कुछ समय उपरान्त उसने राजासे पीनेके निमित्त जल मांगा राजाने उस प्रतिज्ञाको भूल कर उसे जल लादिया उसी समय वह राजाको प्रतिज्ञा भङ्गक कह कर चली गई जिसके वियोगसे राजा दुःखी हुआ" यह अन्यान्य टीकाकारोंका मत है किन्तु हमारी समझमें इस सूत्रका यह अर्थ आता है कि जैसे "भेकी (मेंड़की) अपने जलाशयको भूल जाने पर दुखी होती है" इसी भांति तत्व-ज्ञानकी विस्मृतिमें भी दुःख प्राप्त होगा ॥ १६ ॥

नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्शादृते विरोचनवत् ॥ १७ ॥

केवल उपदेशके सुनने होसे कृतकृत्यता प्राप्त नहीं होती जब तक कि उस सुने हुए उपदेशका भलीभांति परामर्श (चिन्तन) न किया जावे जैसे कि "वृहस्पतिने बिरोचन और इन्द्र दोनों होको उपदेश दिया था; इन्द्रने तो उपदेशको सुनकर

उसका विचार भी किया किन्तु विरोचनने नहीं किया, अतएव उसका सुनना निष्फल हुआ" ॥ १७ ॥

दृष्टस्तयोरिन्द्रस्य ॥१८॥

उन दोनोंमेंसे इन्द्रही को विवेक ज्ञान हुआ क्योंकि उसीने सुने हुए उपदेशका विचार किया था यह देखा गया ॥१८॥

प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात् तद्वत् ॥१९॥

गुरुमें * प्रणति (नम्रता) रखना, ब्रह्मचर्य्य पालन करना, और वेद पढ़नेके निमित्त गुरुके समीप जाना, इन्हीं कर्मोंको बहुतकाल तक करनेसे विवेककी सिद्धि होती है जैसे कि "इन्द्र को हुई थी" ॥ १९॥

न कालनियमो वामदेववत् ॥२०॥

"इतने समयमें विवेककी उत्पत्ति होगी" यह कोई निर्धारित नियम नहीं है क्योंकि वामदेव नामक ऋषिको जन्मान्तरीय ज्ञानके संस्कार रहनेके कारण थोड़े ही समयमें विवेक उत्पन्न हो गया था ॥ २० ॥

---

* इनतीन सूत्रोंके पढनेसे जाना जासकता है कि इन्द्र कौन था और किस प्रकार उसने ज्ञान प्राप्तिकी थी तथा वहभी देह धारी था या नहीं ! ।

अध्यस्तरूपोपासनात् पारम्पर्येण यज्ञोपासिका-
नामिव ॥२१॥

'शरीरही आत्मा है' वा 'मनही आत्मा है' इस प्रकार अध्याहार करके जो उपासना की जाती है उसके परम्परा सम्बन्धसे विवेक होता है जैसे—पहले पुत्रको आत्मा माना, उपरान्त शरीरको, तदुपरान्त इन्द्रियोंको, इसी भांति करते करते आत्म-विवेक होजाता है जैसे कि "यज्ञ करनेवालोंकी परम्परा सम्बन्ध से मुक्ति होती है क्योंकि यज्ञसे चित्तशुद्धि और चित्तशुद्धिसे वासनाओंकी न्यूनता आदि परम्परासे मुक्ति होती है" इसी भांति अध्यस्त उपासनासे भी जानो ॥ २१ ॥

इतरलाभेऽप्यावृत्तिः पञ्चाग्नियोगतो जन्मश्रुतेः ॥२२॥

यदि पञ्चाग्नि योगसे इतर अर्थात् शान्तिका लाभभी करलिया तो भी कर्मोंकी वासना बलवती बनी रहेगी अतएव वह कर्म फिरभी उत्तरोत्तर उत्पन्न होते जावेंगे और उनके उत्पन्न होनेसे जन्मभी होते ही चले जायंगे इसी बातको श्रुतियां भी पुष्ट करती हैं। वह श्रुतियां छान्दोग्यके पञ्चम प्रपाठकके आदिमें हैं यहां विस्तर भयसे उनका उल्लेख और विवरण नहीं किया गया ॥ २२ ॥

विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादनं हंसक्षीरवत् ॥२३॥

जो विरक्त है अर्थात् जिसे विवेक हो गया है उसे हेय (त्यागने योग्य) का तो त्याग और उपादेय (ग्रहण करने

योग्य) का ग्रहण करना चाहिये। हेय संसार; और (उपादेय मुक्ति है। जैसे "हंस जलको त्यागकर दूधको पीलेता है" इसी भांति विरक्त कोभी करना उचित है॥ २३॥

लब्धातिशययोगाद्वा तद्वत् ॥२४॥

अथवा जो ज्ञानकी पराकाष्ठा को पहुंच गया है उसके सङ्गका यदि योग (मौका) लगजाय तोभी पूर्वोक्त (हंसकी भांति) विवेकी हो सकता है॥ २४॥

न कामचारित्वं रागोपहते शुकवत् ॥२५॥

रागके नाश हो जाने पर भी काम चारित्व (मन मौजीपन) न करना चाहिये क्योंकि इससे फिर बन्धमें पड़ जानेका भय है जैसे "कोई शुक (सुआ) दानेके लालचमें आकर बन्धनमें पड़ गया था किन्तु उसे जब वहांसे अव्याहति मिल गई तो फिर एसे फन्देमें नहीं फंसता और यदि फंसे तो पकड़ लिया जावे" इसीको आगे पुष्ट करते हैं॥ २५॥

गुणयोगाद्बद्धः शुकवत् ॥ २६ ॥

जब काम चारी रहैगा तो यदि उसके गुणमें किसीको अनुराग हो जानेसे विवेकी फिरभी बद्ध हो जावेगा जैसे "मधुर भाषण आदि गुणोंसे शुकका बन्धन होता है" इस सूत्रमें श्लेषालङ्कार है॥ २६॥

न भोगाद्रागशान्तिर्मुनिवत् ॥२७॥

भोगोंका पूरा भोग करलेनेसेभी रागोंकी शान्ति नहीं होती जैसे "सौभरि नामक मुनिने पूर्णतया भोगोंका अनुभव किया

किन्तु उससे कुछभी शान्ति नहीं हुई और उन्होंने अपने अन्तिम समयमें ऐसा कहा भी है कि "आमृत्युतो नैव मनोरथानामन्तो-ऽस्ति विज्ञातमिदं मयाद्य। मनोरथासक्ति-परस्य चित्तं न जायते वै परमार्थ सङ्गी" ॥

अर्थ। यह मैंने, आज अच्छी तरह जान लिया कि मृत्यु तक मनोरथोंका अन्त्य नहीं होता और जो चित्त मनोरथोंमें लगा हुआ है उसमें कभी विज्ञानका उदय नहीं होता किन्तु ॥२७॥

दोषदर्शनादुभयोः ॥ २८ ॥

दोनों अर्थात् प्रकृति और उसके कार्यों के दोषोंको देखने से रागों की शान्ति होती है ॥ जिसका चित्त रागादि युक्त है उसके लिये उपदेश फलवान् नहीं होता इसी आशयसे कहते हैं कि ॥ २८ ॥

न मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहोऽजवत् ॥२९ ॥

* मलिन चित्तमें उपदेश रूपी बीजका प्ररोह (उपजना) नहीं होता जैसे कि "स्त्रीशोकातुर राजा अजको नहीं हुआ था" ॥ २९ ॥

---

* इस सूत्रसे विदित होता है कि रामचन्द्रके पितामह राजा अजके उपरान्त महर्षि कपिल हुए और तभी यह सांख्यदर्शन बनाया गया। जो लोग ऐसा माननेमें विकल्प करें वह इस सूत्रको प्रक्षिप्तमानें, किन्तु हमारा पूर्वोक्तही मत है।

नाभासमात्रमपि मलिनदर्पणवत् ॥ ३० ॥

मलिन चित्तमें उपदेशका आभासमात्र भी नहीं पड़ता जैसे कि "मलिन दर्पणमें प्रतिबिम्ब नहीं दीखता" ॥३०॥

न तज्जस्यापि तद्रूपता पङ्कजवत् ॥ ३१ ॥

मोक्षभी प्रकृतिहीके सहारेसे होता है, परन्तु जैसे प्रकृतिसे संसार उत्पन्न हुआ है और वह उसी (प्रकृति) का रूपसमझा जाता है वैसे मोक्षभी प्रकृतिका रूप नहीं होसकती क्योंकि जैसे "पङ्क (कीच) से उत्पन्न हुआ कमल कीचके रूपका नहीं होता" वैसे प्रकृतिसे उत्पन्न मोक्ष प्रकृति रूप नहीं हो सकता है ॥ २१ ॥

न भूतियोगेऽपि कृतकृत्यतोपास्यसिद्धिवदुपास्य-सिद्धिवत् ॥३२॥

अणिमा आदिक विभूतियोंकी प्राप्ति होनेपरभी कृतकृत्यता नहीं होती है क्योंकि जैसा "उपास्य (जिसकी उपासना की जाती है) होगा वैसीही उपासकको सिद्धि मिलेगी" अर्थात् जो धनवान् की उपासना करो तो धन मिलेगा और दरिद्रसे कुछ भी न मिलेगा इसी भांति अणिमा आदि सिद्धि नाश होनेवाली हैं अतएव उनकी प्राप्तिसे कृतकृत्यता नहीं होसकती। पुनरुक्ति पाद समाप्तिके लिये है ॥ ३२ ॥

इति सांख्ये चतुर्थोऽध्यायः।

—०—

अथ-पञ्चमोऽध्यायः ।



मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनात् श्रुतितश्चेति ॥ १ ॥

महर्षि कपिलने अपने शास्त्रका सिद्धान्त मुक्तिके साधनोंके सम्बन्धमें पूर्वाध्यायोंमें सविस्तर वर्णन किया अब इस अध्यायमें बादी प्रतिवादी रूपसे शास्त्रमें सूक्ष्मता पूर्वक कही हुई बातोंका उद्घाटन करेंगे। कोई शंका करता है कि मङ्गलाचरण (अच्छा-बर्ताव) करना व्यर्थ है इसे हेतु गर्भित बाक्योंसे प्रमाणित करते हैं।

मङ्गल आचरण करनाही आवश्यक है क्योंकि शिष्टजनोंका यही आचार है और प्रत्यक्षमेंभी यही फलदिखाई पड़ता है कि जो उत्तम आचरण करता है वह सुखी रहता है "अहरहः संध्या-मुपासीत, अहरहाग्निहोत्रं जुहुयात्" इत्यादिक श्रुतियां भी अच्छे आचरणों हीको प्रतिपादन करतीं हैं बहुतेरे लोग मङ्ग-लाचरण का यह अर्थ यह समझते हैं कि किसी ग्रन्थको बनाते समय उसके आदिमें किसी उत्तम शब्दका प्रयोग करदेना परन्तु उसका नाम मङ्गलाचरण रखना हमारी सम्मतिसे ठीक नहीं है क्योंकि प्रथमतो मङ्गलाचरण का वैसा अर्थ नहीं हो सकता, दूसरे यदि ग्रन्थके आदिमें ही मङ्गल किया तो अन्यत्र अमङ्गल होगा, तीसरे कादम्बर्य्यादि ग्रन्थोंमें मङ्गल होने परभी उनकी

निर्विघ्न समाप्ति नहीं दिखाई पड़ती अतएव ऐसा मानना कदापि युक्त नहीं होसकता । कर्मका फल स्वतः (अपने आप) होता है इस पक्षका खण्डन करते हैं ॥ १ ॥

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः ॥२॥

कर्मसे फलकी निष्पत्ति (सिद्धि) नहीं होती क्योंकि उसकी सिद्धिका अधिष्ठान ईश्वर है । इस सूत्रका आशय यह है कि कर्मका फल अपने आप नहीं होता, किन्तु ईश्वर, कार्य्यों के फलका देनेवाला है इसी पक्षको प्रकारान्तरसे पुष्ट करते हैं ॥ २ ॥

स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत् ॥३॥

जैसे लोकमें देखा जाता है कि "मनुष्य अपने उपकारके लिये कर्मोंका फल देनेवाला एक पृथक् नियुक्त करते हैं" इसी भांति ईश्वर भी सबके कर्म्मफल देनेके लिये एक अधिष्ठान है ॥ ३ ॥

लौकिकेश्वरवदितरथा ॥४॥

यदि ईश्वरको सब कर्मों का फल देनेवाला न माना जावे तो "लौकिक ईश्वरोंकी भांति जुदे कर्मों के फल देनेवाले जुदे २ ईश्वर मानने पड़ेंगे" तथा जो भ्रम, प्रमाद आदि दोष लौकिक ईश्वरोंमें दिखाई पड़ते हैं वह उसमें भी दिखाई पड़ेंगे अतएव यह मानना ठीक नहीं है कि कर्म्मका फल ईश्वर नहीं देता ॥ ४ ॥

पारिभाषिको वा ॥५॥

कर्म्मका फल अपने आप होता है इस प्रकार माननेमें एक दोष यह भी होगा कि फिर ईश्वर केवल नाम मात्रका रह जायगा और ईश्वरके नाम मात्र रह जानेमें यह दोष होगा कि इस दीखते हुए जगत्की सिद्धि न हो सकेगी क्योंकि ॥ ५ ॥

न रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् ॥६॥

ईश्वर सृष्टिको सिद्धिमें प्रतिनियत कारण है उसके बिना केवल रागसे अर्थात् प्रकृति महदादिकोंसे जगत्की सिद्धि नहीं हो सकती। कहीं २ 'जगत् सिद्धिः' और कहीं 'तत्सिद्धिः' पाठ पुस्तकोंमें दिखाई पड़ता है परन्तु अर्थ दोनोंका एक ही होनेसे सिद्धान्त की चति नहीं हो सकती ; अब यहां पर यह सन्देह होता है कि जैसे कोई ईश्वरको जीव-रूप-धारी (अविद्यावशसे) मान कर प्रकृतिका सङ्गी मानते हैं और उसमें रागादिक भी प्रकृति योगसे स्वीकार करते हैं वैसा आप क्यों नहीं मानते तो उस मतमें दूषण बताते हैं कि ॥ ६ ॥

तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः ॥७॥

यदि प्रकृतिके साथ ईश्वरका योग मान कर जीव आदि उसीकी अवस्था मानी जावे तो ईश्वर नित्य मुक्त नहीं रहेगा अर्थात् जैसे जीव प्रकृतिके सङ्गी होनेसे अनित्य मुक्त हैं वैसा ईश्वरभी हो जावेगा। और जो लोग उस प्रकार ईश्वरको मानते हैं उनका ईश्वरभी संसारी जीवोंकी भांति अनित्य मुक्त है यदि

यह कहो कि ईश्वरसे जगत् बना है अर्थात् ईश्वर उपादान कारण है सोभी युक्त नहीं है क्योंकि ॥ ७ ॥

प्रधानशक्तियोगाच्चेत् सङ्गापत्तिः ॥८॥

यदि ईश्वरको प्रधान शक्तिका योग हो तो पुरुषमें सङ्गापत्ति हो जाय अर्थात् जैसे प्रकृति सूक्ष्मसे मिल कर कार्य्य रूपमें सङ्गत हुई है वैसे ईश्वरभी स्थूल हो जाय इस लिये ईश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता किन्तु निमित्त कारण है ॥ ८ ॥

सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम् ॥९॥

जो चेतनसे जगत्की उत्पत्ति हो तो जैसा परमेश्वर समग्र ऐश्वर्य्य युक्त है वैसा संसारमें भी सर्वैश्वर्य्यका योग होना चाहिये वह नहीं है इस हेतुसे भी परमेश्वर जगत्का उपादान कारण सिद्ध नहीं होता किन्तु निमित्त कारण है। इसी पक्षको और भी पूर्णतया पुष्ट करते हैं ॥ ९ ॥

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ॥१०॥

ईश्वर जगत्का उपादान कारण है इसमें कोई प्रमाण नहीं पाया जाता अतएव उसकी सिद्धि नहीं हो सकती अर्थात् वह पूर्वपक्ष ठीक नहीं हैं ॥ १० ॥

सम्बन्धाभावान्नानुमानम् ॥११॥

और जब ईश्वरका जगत्से उपादान कारण-रूप सम्बन्धही नहीं है तो यह अनुमान भी किसी प्रकार नहीं हो सकता कि शायद ईश्वर ही से जगत् बना है, क्योंकि ॥११॥

श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य ॥१२॥

श्रुतियां तो जगत्का उपादान कारण प्रधान अर्थात् प्रकृति को बतातीं हैं जैसे "अजामेकां लोहित-शुक्ल-कृष्णां बह्वीप्रजाः सृजमानां स्वरूपाः" यह श्वेताश्वरतर उपनिषद्का वाक्य है इसका अर्थ यह है कि जो जन्म रहित सत्व रज तमोगुण रूप प्रकृति है वही स्वरूपाकारसे बहुत प्रजारूप हो जाती है अर्थात् परिणामिनी होनेसे अवस्थान्तर हो जाती है और ईश्वर अपरिणामी एवं असङ्गी है। कोई २ एसा मानते हैं कि ईश्वरको अविद्याका सङ्ग होनेसे बन्धनमें पड़ना पड़ता है और उसीके योगसे यह संसार है उस मतका खण्डन करते हैं कि ॥ १२ ॥

नाविद्याशक्तियोगो निःसङ्गस्य ॥१३॥

निःसङ्ग अर्थात् सङ्ग रहित ईश्वरको अविद्या शक्तिका योग कदापि नहीं हो सकता क्योंकि जब अविद्याका योग मान कर उसे सङ्गी सिद्ध करेंतो ईश्वरको उपादान कारण माननेवालोंकी भांति दोषापत्ति होगी; यदि यह कहेंकि अविद्याके बिना ईश्वर सृष्टि नहीं कर सकता सो भी युक्त नहीं है क्यों कि ॥ १३ ॥

तद्योगे तत्सिद्धावन्योऽन्याश्रयत्वम् ॥१४॥

यदि अविद्याके योगसे संसारकी सिद्धि मानेंतो अन्योऽन्याश्रयत्व दोष आता है क्योंकि अविद्या ईश्वर बिना संसार नहीं कर सकती; और ईश्वर अविद्या बिना संसार नहीं बना सकता,

यही दोष हुआ । यदि दोनोंको (ईश्वर और अविद्याको) एक-कालिक अनादि मानें जैसे कि बीज और अङ्कुर को मानते हैं वह भी ठीक नहीं क्योंकि ॥ १४ ॥

न बीजाङ्कुरवत् सादिसंसारश्रुतेः ॥१५॥

बीज और अङ्कुरके समान अविद्या और ईश्वरको माननेमें यह दोष होगा कि 'सदेव सौम्येदमग्र आसीद्' "एक मेवाद्वितीयं ब्रह्म" (हे सौम्य ! यह पहले सत् ही था । एकही अद्वितीय ईश्वर है) इत्यादि श्रुतियां जो एक ईश्वरको प्रतिपादन करके संसारको सादि और ईश्वरको अद्वितीय बताती हैं उसके साथ अविद्याका जञ्जाल लगानेसे उक्त श्रुतियोंमें विरोध पड़ेगा। यदि कहो कि हमारी अविद्या योग-शास्त्र कीसी नहीं है किन्तु जैसा अपके मतमें प्रकृति है वैसे ही हमारे मतमें अविद्या है तो इस मतको भी दूषित करते हैं ॥ १५ ॥

विद्यातोऽन्यत्वे ब्रह्मबाध-प्रसङ्गः ॥१६ ॥

यदि विद्यासे अतिरिक्त पदार्थका नाम अविद्या है अर्थात् वह विद्याका नाश करनेवाली अविद्या है तो ब्रह्मका भी अवश्य नाश कर देगी क्योंकि ब्रह्मभी तो विद्यामय है । इस सूत्र का यह भी अर्थ हो सकता है कि यदि अविद्या विद्यारूप ब्रह्म से भिन्न है और उसे विविध परिच्छेद रहित ब्रह्ममें अङ्गीकार किया जाता है तथाच ब्रह्म अविद्यासे अन्य और अविद्या ब्रह्मसे अन्य है तो ब्रह्मके परिच्छेद रहितत्वमें बाधा पड़ेगी अतएव वैसा मानना ठीक नहीं है । अब यह प्रश्न हो सकता है कि

उस अविद्याका किसीसे बाध हो सकता है वा नहीं, इन्हींका विचार करते हैं कि ॥१६॥

अबाधे नैष्फल्यम् ॥ १७ ॥

यदि उसका किसीसे भी बाध नहीं हो सकता तो मुक्ति आदि और विद्या प्राप्तिका प्रयत्न करना निष्फल है ॥१७॥

विद्याबाध्यत्वे जगतोऽप्येवम् ॥१८॥

यदि विद्यासे उसका बाध हो जाता है तो उससे बने जगत्का भी बाध होना चाहिये अर्थात् जिन्हें विद्या है उन्हें जगत् की प्रतीति न होनी चाहिये ॥१८॥

तद्रूपत्वे सादित्वम् ॥१९॥

और यदि अविद्याको जगद्रूप मानों (अर्थात् जगत् है यही अविद्या है ऐसा कहो) तो अविद्यामें सादित्व आता है क्योंकि संसार सादि है। अतएव अविद्या कोई पदार्थ नहीं है, उसी बुद्धि वृत्तिका नाम अविद्या है जो कि महर्षि पातञ्जलने कही है। अब यह सन्देह होता है कि जब कपिलाचार्य्यके मतमें समस्त कार्य्य वैचित्र्यका हेतु प्रकृति है और वही सुख दुःखादिका कारण है तो धर्माधर्मको माननेकी क्या आवश्यकता है? इस पर विचार करके धर्मको सिद्धि करते हैं ॥१९॥

न धर्मापलापः प्रकृतिकार्यवैचित्र्यात् ॥२०॥

प्रकृतिके कार्य्योंकी विचित्रता माननेसे धर्मका अपलाप (दूर होना) नहीं हो सकता क्योंकि ॥२०॥

श्रुतिलिङ्गादिभिस्तत्सिद्धिः ॥२१॥

उसकी सिद्धि श्रुति और योगियोंके प्रत्यक्षसे हो सकती है "पुण्यो वै पुण्येन भवति पापः पापेन" इत्यादि श्रुतियां धर्मके फलको बताती हैं अतएव उसका अपलाप नहीं हो सकता। यदि यह कहा जावे कि धर्ममें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं, अतएव उसकी सिद्धि नहीं हो सकती तो इसका उत्तर यह है कि ॥२१॥

न नियमः प्रमाणान्तरावकाशात् ॥ २२ ॥

प्रत्यक्षही प्रमाणसे धर्मकी सिद्धि हो यह नियम नहीं क्योंकि इसमें अनेक प्रमाण पाये जाते हैं और प्रत्यक्ष प्रमाणके अतिरिक्त प्रमाणोंसे भी पदार्थकी सिद्धिकी जाती है यदि यह कहा जावे कि इस प्रकार धर्मकी सिद्धि करली किन्तु अधर्मकी सिद्धि तो किसी प्रमाणसे नहीं हो सकती, इसका उत्तर यह है कि ॥२२॥

उभयत्राप्येवम् ॥ २३ ॥

जैसे धर्मके सम्बन्धमें प्रमाण पाये जाते हैं वैसे अधर्मके सम्बन्धसेमें भी प्रमाण पाये जाते हैं ॥२३॥

अर्थात् सिद्धिश्चेत् समानमुभयोः ॥ २४ ॥

जिस बातकी विधि वेदादिकोंमें पाई जाती है उसके अतिरिक्त जो कुछ है वह अधर्म है इस प्रकारकी यदि अर्थापत्ति निकालो तो वह भी युक्त नहीं हो सकता क्योंकि श्रुत्यादिकोंमें जैसे धर्मकी विधि पाई जाती है वैसेही अधर्मका निषेध भी

पाया जाता है यथा "परदारां न गच्छेद्" (पराई स्त्रीका गमन न करे) इस प्रकारके वाक्य दोनोंमें (धर्माधर्ममें) दोनोंही (निषेध और विधि) समान पाये जाते हैं। अब यह सन्देह होता है कि यदि धर्मादि को आप स्वीकार करते हैं तो पुरुष को धर्मवाला मान कर पुरुषमें परिणामित्व आता है इसका उत्तर यह है कि ॥२४॥

अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम् ॥२५॥

धर्म आदि अन्तःकरणके धर्म हैं अर्थात् इन सबका सम्बन्ध अन्तःकरणसे है न कि जीवसे। इस सूत्रमें आदि शब्दके कथनसे वैशेषिकवालोंने जो आत्माके विशेष गुणमाने हैं उनका ग्रहण होता है यहां पर यह सन्देह न करना चाहिये कि प्रलयमें जब अन्तःकरण नहीं रहता तब धर्म आदिक कहां रहते हैं? क्योंकि आकाशके समान अन्तःकरण भी विनाश रहित है इससे अन्तःकरणरूप जो प्रकृतिका अंश विशेष है उसमें धर्म और अधर्मके संस्कार रहते हैं इसी सूत्रके आशयको लेकर किसी कविने कहा है कि "धर्म नित्य है और सुखदुःखादिक अनित्य हैं।" अब यहां पर यह संदेह होता है कि प्रकृतिके कार्योंकी विचित्रतासे जो धर्म आदिकी सिद्धिकी गई वह अयुक्त है क्योंकि प्रकृति त्रिगुणात्मक है और उसके कार्य हैं इस बातका बाध "न निरोधोनचोत्पत्तिः "वाचारम्भणं विकारं नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (न नाश है न उत्पत्ति है)(घट पट आदि सब कथन मात्रके हैं मृत्तिकाही सत्य है) इन श्रुतियोंसे होता है अतएव

प्रकृति के गुण मानना ठीक नहीं इस पक्षको खण्डन करनेके निमित्त कहते हैं कि ॥२५॥

गुणादीनां च नात्यन्तबाधः ॥२६॥

सत्व रज आदि, गुण और उनके धर्म जो सुखादिक एवं उन गुणोंके कार्य जो महदादिक उनका अत्यन्त बाध अर्थात् स्वरूपसे नाश नहीं होता किन्तु संसर्गसे बाध होता है जैसे अग्निके संसर्गसे जलकी स्वाभाविक शीतलताका बाध हो जाता है किन्तु उसके स्वरूपका बाध नहीं होता इसी भांति प्रकृतिके गुणोंकाभी बाध नहीं होता। अब यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि जैसे 'स्वप्नके मनोरथोंका स्वरूपसे बाध हो जाता है इसी भांति प्रकृतिके गुणोंका बाध क्यों नहीं होता' तो इसका उत्तर यह है कि ॥२६॥

पञ्चावयवयोगात् सुखसंवित्तिः ॥२७॥

सुखादिक पदार्थोंकी सिद्धि पंचायवय वाक्यसे (जैसा कि न्यायमें माना गया है) होती है अतएव जब सुख आदिकी सिद्धि न्यायके मतानुसार करली जाती है तब उनका स्वरूपसे नाश नहीं माना जा सकता क्योंकि जो पदार्थ सत् है उसका नाश नहीं कह सकते। उस पंचायवसे सुखादिकी संवित्ति इस प्रकार होती है कि प्रतिज्ञा, हेतु, उपनय, उदाहरण, निगमन, इन पांचोंको सुखमें इस प्रकार लगाना चाहिये कि 'सुख सत्' (सत्य) है (यह प्रतिज्ञा हुई।) क्योंकि प्रयोजनकी क्रिया करता है वह 'सत्' है (यह उपनय है)। जैसे चेतन प्रयोजन की क्रिया-

श्रोंको करता है वैसे यह भी (इसे दृष्टान्त कहते हैं)। पुलकित होना आदि प्रयोजनकी क्रिया सुखमें है इस लिये वह सच्चा है। यहां केवल सुखका ग्रहण उपलक्ष-मात्रके लिये है अर्थात् इसी भांति और गुणोंका स्वरूपसे नाश नहीं होता इस स्थान पर न्यायका विषय आचार्यने इस हेतु किया है कि विना इस पांच बातोंके किसी सच्चे झूंठे पदार्थका निर्णय नहीं हो सकता और जो इस पंचावयवसे सिद्ध न हो वह अनुमान करने योग्य भी नहीं। अब एक नास्तिक जो कि प्रत्यक्षके अतिरिक्त अन्य प्रमाण ही नहीं मानता इस पंचावयवके मुख्य सिद्धान्त व्याप्तिका खण्डन करनेके अभिप्रायसे इस अगले सूत्रसे उसमें दूषण और अनुमान को असङ्गत कहता है कि ॥ २७ ॥

न सकृद्ग्रहणात् सम्बन्ध-सिद्धिः ॥२८॥

जहां धूम है वहां अग्नि होगी इस साहचर्य्यके ग्रहणसे व्याप्तिरूपी सम्बन्धकी सिद्धि नहीं होती क्योंकि अग्निमें धूमसदेव नहीं रहता और जो पाकशालाका दृष्टान्त दिया जाता है वह भी ठीक नहीं होसकता क्योंकि यदि कहीं पर हाथी और अग्नि दोनोंको एक स्थल पर देखले और फिर कहीं दूसरी जगह दूरसे हाथी दिखाई पड़े तो यह अनुमान नहीं करसकते कि वहां हाथी है तो अग्निभी होगी जैसे कि पहले देख चुके हैं बस इस पूर्वपक्षसे नैयायिक जैसा अनुमान करते हैं वह अयुक्त सिद्ध हुआ और प्रत्यक्ष प्रमाण होको माननेवाले चार्वाक नास्तिकके मतकी पुष्टि हुई इसका उत्तर यह है कि ॥२८॥

नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः ॥२९॥

जिन दो पदार्थोंका व्याप्य व्यापकभाव माना जाय उनमेंसे या तो दोनोंका अथवा एकका नियत-धर्म-साहित्य (साथ रहने का नियम) होनेको व्याप्ति कहते हैं। इस सूत्रका विशेष विवरण इस प्रकार है कि जैसे 'पर्वत पर अग्नि है' क्योंकि धूम दिखाई पड़ता है, 'जहां जहां धूम होता है वहां वहां अग्नि अवश्यही होती है' यही व्याप्ति हुई इसमें यह समझना चाहिये कि धूम अग्निके बिना नहीं रह सकता और अग्नि बिना धूमके भी रह सकती है इससे सिद्ध हुआ कि धूमका अग्निके साथ रहना नियत-धर्म-साहित्य है परन्तु यह एकका नियत धर्म साहित्य हुआ। चार्वाकने जो हाथी और अग्निका दृष्टान्त देकर व्याप्तिका खण्डन किया था वह ठीक नहीं होसकता क्योंकि हाथीको अनेक स्थलों पर बिना अग्निके भी देखते हैं और अग्निको बिना हाथीके देखते हैं तब साहचर्य्य ही नहीं रहा अतएव वह पक्षभी अयुक्त सिद्ध होगया। अब रहा दोनोंका नियत-धर्म-साहित्य वह गन्ध और पृथ्वीमें पाया जाता है अर्थात् जहां पृथ्वी होगी वहां गन्ध अवश्य रहेगा और जहां गन्ध होगा वहां पृथ्वीभी अवश्य ही होगी, यह दोनों परस्पर एक दूसरेके बिना कदापि रह नहीं सकते ॥ २९ ॥

न तत्त्वान्तरं वस्तु-कल्पनाप्रसक्तेः ॥३०॥

पूर्व सूत्रमें व्याप्तिका जो लक्षण करचुके हैं उसके सिवाय किसी अन्य पदार्थका नाम व्याप्ति नहीं हो सकता क्योंकि इस

प्रकार अनेक प्रकारकी व्याप्ति माननेमें एक नया पदार्थ कल्पना करना पड़ेगा अतएव व्याप्तिका वही लक्षण ठीक है जो कि पूर्वसूत्रमें हो चुका है ॥ ३० ॥

निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः ॥३१॥

जो व्याप्यकी शक्तिसे उत्पन्न किसी विशेष शक्तिका रूप हो वही व्याप्ति आचार्य्योंके मतमें माननीय है। इस सूत्रका आशय इस दृष्टान्तसे समझलेना चाहिये कि व्याप्य जो अग्नि है उसकी शक्तिसे ही तो धूम उत्पन्न होता है और वह अग्निकी किसी विशेष शक्तिका रूपभी है बस इसी प्रकारके पदार्थको व्याप्ति कहते हैं जिसमें यह बात नहो वह व्याप्ति नहीं होसकती। यदि यह कहा जावे कि धूम अग्निकी शक्तिसे उत्पन्न नहीं होता, किन्तु गीले इन्धनकी शक्तिसे उत्पन्न होता है वह कहना युक्त नहीं क्योंकि गीले इन्धनहीमें यदि ऐसी शक्ति होती तो वायुके संयोगसे इन्धनसे धूम क्यों न उत्पन्न होता, किन्तु जब ऐसा नहीं दीखता तो स्वीकार करना पड़ेगा कि धूम अग्निहीकी शक्ति विशेष है ॥ ३१ ॥

आधेय-शक्तियोग इति पञ्चशिखः ॥३२॥

आधारमें आधेयकी शक्ति रहनेको पञ्चशिख नामक आचार्य्य व्याप्तिमानते हैं। इसका भी भावार्थ इस दृष्टान्तसे समझना चाहिये कि आधार जो अग्नि उसमें आधेय धूम रहनेकी शक्ति रहना इसीको व्याप्ति कहते हैं इसमें यह सन्देह न करना चाहिये कि जब अग्निमें धूम नहीं दीखता तब उसमें व्याप्ति नष्ट

होगई" क्योंकि धूमका आविर्भाव तिरोभाव होता रहता है" किन्तु अग्निसे धूम नष्ट नहीं हो सकता अतएव व्याप्तिका नाश नहीं कह सकते इसका वर्णन प्रथमाध्यायमें पूर्णतया हो चुका है। अब यहां पर यह सन्देह होता है कि आधारमें आधेय-शक्ति-सत्त्व क्यों कल्पना किया जाता है ? आधारकी * स्वरूप शक्तिहीको व्याप्ति क्यों नहीं मान लिया जाय इस पर विचार करते हैं कि ॥ ३२ ॥

न स्वरूपशक्तिर्नियमः पुनर्वादप्रसक्तेः ॥३३॥

व्याप्य (आधार) की स्वरूप शक्तिको नियम अर्थात् व्याप्ति नहीं मान सकते क्योंकि उसमें फिर झगड़ा पड़ जायगा। क्या झगड़ा पड़ेगा उसे स्पष्ट करते हैं कि ॥ ३३ ॥

विशेषणानर्थक्यप्रसक्तेः ॥३४॥

विशेषण देना व्यर्थ होगा जैसे कहा गया कि "बहुत धूम वाला अग्नि है" इस वाक्य में बहुत शब्द विशेषण, धूम-

* यद्यपि इस विषयको पूर्णतया जाननेके लिये न्यायशास्त्रकी बड़ी भारी आवश्यकता है क्योंकि यह उसीका बिषय है परन्तु तौभी हमने यथासाध्य जहां तक कि इस मातृभाषामें होसकता है इसके प्रत्येक वाक्यको दृष्टान्तसे दिखाकर स्पष्ट करदिया है जिस से बिचारशीलोंको समझनेमें कष्ट न पड़ेगा तथापि अनेक पारिभाषिक शब्द ऐसे हैं जिनकी भाषा हो ही नहीं सकती अतएव उन्हें वैसाही रखकर विशेष विवरण कर दिया है परन्तु पाठकोंको उचित है कि यह प्रकरण यदि एकबारके पढ़नेसे समझमें न आवे तो अनेकबार पढ़कर उत्तमतापूर्वक दत्तचित्त होकर विचारें और सूत्रके अर्थको दृष्टान्तसे मिलाकर समझें।

विशेष्य एवं आधेय, और अग्नि आधार है, अब यदि धूमको अग्निकी स्वरूप शक्ति मानलें तो 'बहुत' इस शब्दको क्या मानें क्योंकि उसे (बहुत शब्दको) अग्निकी स्वरूप शक्ति तो मान नहीं सकते और उस वाक्यमें पड़कर वह अपना कुछ अर्थ अवश्य ही रखता है एवं उस अर्थसे स्वरूप शक्तिमें न्यूनाधिकता भी अवश्यही होजाती है तो उसेभी कुछ न कुछ अवश्य मानना चाहिये और न मानने पर उसका (विशेषणका) उच्चारण करना व्यर्थ होता है। दूसरा झगड़ा यह पड़ेगा कि ॥ ३४ ॥

पल्लवादिष्वनुपपत्तेश्च ॥३५॥

जैसे पत्तोंका आधार वृक्ष है और व्याप्तिका लक्षण स्वरूप शक्ति मान कर वृक्षकी शक्ति स्वरूप जो पत्र हैं उन्हींका ग्रहण व्याप्तिपदके कहनेसे हुआ इस प्रकार माननेमें यह दोष होगा कि जैसे वृक्षकी स्वरूप शक्ति पत्रोंको मान लिया और वही व्याप्तिभी होगई तो पत्रके टूट जाने पर व्याप्तिका भी नाश-मानना पड़ेगा और व्याप्तिका नाश मानने पर बड़ा भारी बखेड़ा पड़कर प्रत्यक्षवादी चार्वाकका मत पुष्ट होजायगा अत-एव ऐसा कदापि न मानना चाहिये कि आधारकी स्वरूप शक्तिका नाम व्याप्ति है। अब यह निर्णय करते हैं कि आचार्य और पञ्चशिखके मतमें भेद है वा नहीं क्योंकि पञ्चशिख तो आधार (अग्नि)में आधेय(धूम)की शक्ति होनेको व्याप्ति मानता है और आचार्य्य व्याप्य अग्निकी शक्तिसे उत्पन्न हुए किसी शक्ति विशेषको जुदा पदार्थ मान कर उसे व्याप्ति बताते हैं इन दोनोंमेंसे कौन ठीक है ॥ ३५ ॥

२०

आधेयशक्तिसिद्धौ निजशक्तियोग: समामन्यायात् ॥३६॥

समान न्याय अर्थात् समान युक्ति होनेसे जैसे आधेय शक्ति की सिद्धि होती है वैसेही "निज-शक्ति योग" यह आचार्य्योंका मतभी ठीकही है दोनोंमेंसे किसीकाभी मन्तव्य युक्ति हीन नहीं है। यह व्याप्तिका झगड़ा केवल इसी लिये उठाया गया था कि गुण आदि स्वरूपसे नाशवान् नहीं है इसी पक्षको पुष्ट करनेके लिये आचार्यको अनुमान प्रमाणकी आवश्यकता हुई और वह अनुमान प्रमाण विना पञ्चावयवके हो नहीं सकता था अतएव उसका भी उल्लेख करना पड़ा इसी निर्णयमें पञ्चावयव के अन्तर्गत एक साहचर्य्य नियम जिसका कि नामान्तर व्याप्ति है आपड़ा उसीको सुलझानेके निमित्त यह कह कर अपने पक्ष को पुष्ट कर लिया। अब इससे आगे पञ्चावयव रूप शब्दको ज्ञानकी उत्पत्तिमें हेतु सिद्ध करनेके लिये शब्दकी शक्तियोंको प्रकाशित करके उस शब्द प्रमाणमें बाधा देनेवालोंके मतका खण्डन करते हैं॥ ३६॥

वाच्यवाचकभाव: सम्बन्ध: शब्दार्थयो: ॥३७॥

शब्दके अर्थमें वाच्यता शक्ति रहती है और शब्दमें वाचकता शक्ति रहती है यही शब्द और अर्थका वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध है अर्थात् शब्द, अर्थको कहता है और अर्थ शब्दमें कहा जाता है बस यही इनका सम्बन्ध है। उस वाच्यवाचकता रूप शक्तिको कहते हैं॥ ३७॥

त्रिभिः सम्बन्धसिद्धिः ॥३८॥

उस पूर्व कहे हुए सम्बन्धकी सिद्धि तीन प्रकारसे होती है एक तो आप्त (पूर्ण-विद्वान्) के उपदेशसे, दूसरे बड़ोंके चाल-चलनसे, तीसरे लोकके प्रसिद्ध (जाहिर) पदोंके देखनेसे ; इन्हीं तीन प्रकारोंसे शब्दका वाच्यवाचक भाव जाना जाता है उसे यों समझना चाहिये कि आप्तोंके द्वारा ऐसे शब्दोंका बोध होता है जैसे ईश्वर निराकार सत् चित् आनन्द स्वरूप है जब ईश्वर शब्द कहा जावेगा तब ऊपर कहे हुए विशेषवाले पदार्थका बोध होगा, और बड़ोंके चालचलनसे यह कि बड़े लोग शास्ना (जो खालगोके गलेमें लटकती है) लांगूल (पूंछ)वाले पदार्थको गौ कहते चलेआते हैं तो उसीके अनुसार जब गौ शब्दका उच्चारण होगा तब उसी अर्थको बोध करावेगा, एवं प्रसिद्ध शब्दोंका व्यवहार यह है कि जैसे कपित्थ एक वृक्षका नाम प्रसिद्ध है वह क्यों कपित्थ कहाता है,उसे कपित्थ कहना चाहिये वा नहीं,यह तर्क न करके लौकिक प्रसिद्ध होनेके कारण कपित्थसे उसीका ग्रहण होता है ॥ ३८ ॥

न कार्ये नियम उभयथा दर्शनात् ॥३९॥

वह शब्दकी शक्तिका वाच्यवाचकभाव कार्य्यहीमें हो अन्यत्र नहो यह नियम नहीं है क्योंकि दोनों (कार्य्य और विना कार्य्य) प्रकारसे शब्दकी शक्तियोंका ग्रहण देखा जाता है जैसे "गौको-लाओ" इस वाक्यमें गौका लाना यह कार्य दिखाई पड़ता है एवं इसके शब्दभी उसी कार्यको जताते हैं और "तेरे पुत्र उत्पन्न होगया" इसमें कार्यका प्रत्यक्ष भाव दिखाई नहीं पड़ता क्योंकि

पुत्रका उत्पन्न होना यह जो क्रिया है वह पूर्वही होचुकी और यह वाक्य उस बीती हुई क्रियाको कहता है अतएव, यह नियम नहीं कि कार्यहीमें शब्द और अर्थका सम्बन्ध न हो। अब यह सन्देह होता है कि यह उपरोक्त प्रतीति लौकिक बातोंमें हो सकती है क्योंकि लोकमें प्राय: कार्यशब्दोंका प्रयोग किया जाता है किन्तु वेदमें जो शब्द हैं उनके अर्थका ज्ञान कैसे होता है क्योंकि उसके शब्द कार्य नहीं हैं इसका समाधान इस प्रकार है कि ॥ ३९ ॥

लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थ-प्रतीतिः ॥४०॥

जो मनुष्य लौकिक व्यवहारोंमें चतुर है उसीको वेदका अर्थ विदित होता है क्योंकि एसा कोई भी लोक हितकारी व्यवहार नहीं है जो वेदमें न हो अतएव वेदमें विद्वत्ता प्राप्त करनेके निमित्त लोकको व्युत्पत्ति (वाकफियत) हासिल करनी चाहिये। शब्दोंकी शक्ति लोक और वेद दोनोंमें समान है इस पर नास्तिक यह शंका करता है कि ॥ ४० ॥

न त्रिभिरपौरुषेयत्वाद्वेदस्य तदर्थस्यातीन्द्रियत्वात् ॥ ४१ ॥

ऊपर कहे हुए तीन प्रमाणोंसे वेदके अर्थकी प्रतीति नहीं हो सकती क्योंकि मनुष्य मनुष्यकी बातको समझ सकता है किन्तु वेद अपौरुषेय (जो किसी मनुष्यका बनाया हुआ न हो) है अतएव उसका अर्थभी इन्द्रियोंसे नहीं जाना जाता क्योंकि वह इन्द्रियोंकी शक्तिसे वाहर है इसका समाधान करनेके

निमित्त प्रथम यह सिद्ध करते हैं कि वेदोंका अर्थ प्रत्यक्ष देखने में आता है अतीन्द्रिय नहीं है ॥ ४१ ॥

न यज्ञादेः स्वरूपतो धर्मत्वं वैशिष्ट्यात् ॥४२॥

वेदके अर्थको जो अतीन्द्रिय (जो इन्द्रियोंसे न जाना जाय) कहा वह ठीक नहीं वेदसे जो यज्ञ आदि किये जाते हैं और उनमें जो २ कार्य्य होते हैं वह सब स्वरूप ही से धर्म हैं क्योंकि उन सबोंका प्रत्यक्ष फल देखनेमें आता है जैसा कि "यज्ञाद् भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्न सम्भवः" (यज्ञसे बादल होता है और बादलसे अन्न होता है) इत्यादि वाक्य गीतामें पाये जाते हैं। अब यह सन्देह होता है कि जब वेद अपौरुषय हैं तो उनका अर्थ कैसे जाना जाता है इसका उत्तर यह है कि ॥ ४२ ॥

निजशक्तिर्व्युत्पत्त्या व्यवच्छिद्यते ॥ ४३ ॥

शब्दका अर्थ होना यही शब्दकी स्वाभाविकी शक्ति है वही शक्ति वेदोंके अर्थमें भी विद्वानोंकी परम्परासे चली आती है और उसी व्युत्पत्ति (वाकफियत) से वृद्धलोग 'इस शब्दका यह अर्थ है' इस प्रकार पृथक् २ करके शिष्योंको पढ़ाते हैं ॥ अब रहा यह कि वेदका अर्थ प्रत्यक्ष नहीं किन्तु अतीन्द्रिय है उसका भी समाधान यह है कि ॥ ४३ ॥

योग्यायोग्येषु प्रतीतिजनकत्वात् तत्सिद्धिः ॥४४॥

ब्रह्मचर्य्यादि जिन कार्यों को वेदने योग्य कहा है और हिंसादि जिन दुष्ट कर्मों को बुरा कहा है उनकी प्रतीति प्रत्यक्षमें देखी जाती है अर्थात् इन दोनों कार्योंका जैसा फल वेदमें

कहा वैसी दिखाई पड़ता है। इससे इस बातकी सिद्धि होगई कि वेदका अर्थ अतीन्द्रिय नहीं है किन्तु उसे समझ सकते हैं। अब नास्तिक इस बात पर सन्देह करता है कि ॥४४॥

न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः ॥४५॥

"तस्माद् यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे" (उस यज्ञरूप परमेश्वरसे ऋग्वेद सामवेद उत्पन्न हुआ) इत्यादि श्रुतियोंसे विदित होता है कि वेदोंकी उत्पत्ति हुई और जिसकी उत्पत्ति है उसका नाशभी अवश्य ही होगा अतएव वेद कार्य होनेसे नित्य नहीं होसकते। इस पूर्व पक्षका समाधान यह है कि॥४५॥

न पौरुषेयत्वं तत्कर्त्तुः पुरुषस्याभावात् ॥४६॥

जब वेद किसी पुरुषके बनाये हुए नहीं है क्योंकि उनके बनानेवाला पुरुष दिखाई नहीं पड़ता तब यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वेद अपौरुषेय हैं जब अपौरुषेयत्व सिद्ध होगया तो वह (जिसके कि बनाये हुए वेद हैं) नित्य है और नित्यके कार्यभी नित्य होतेही हैं अतएव वेदोंका भी नित्यत्व सिद्ध हो गया यदि कहो कि किसी जीवनेही वेद बनाये हों सोभी ठीक नहीं क्योंकि ॥ ४६ ॥

मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात् ॥४७॥

जीव दो प्रकारके होते हैं एक मुक्त और दूसरे अमुक्त, वह दोनोंही वेद बनानेके अयोग्य हैं क्योंकि मुक्त जीवमें तो उतनी शक्ति नहीं रहती जिससे वेद बन सके और बद्धजीव अज्ञानी अल्पज्ञ आदि दोषोंसे ग्रसित रहते हैं किन्तु वेदोंमें ऐसी बातें

पायी जाती हैं जो बिना सर्वज्ञत्वके नहीं जानी जाती और जीव अल्पज्ञ है अतएव इस प्रमाणसे भी वेदोंकी नित्यता सिद्ध होगई। नित्यताको अगले सूत्रसे और भी प्रतिपादन करते हैं कि ॥४७॥

नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वमङ्कुरादिवत् ॥४८॥

वेद अपौरुषेय हैं अतएव नित्य हैं किन्तु बीज और अङ्कुरमें जैसे कार्य्यत्व मानकर अनित्यत्व माना जाता है वैसे नहीं है क्योंकि ॥ ४८ ॥

तेषामपि तद्योगे दृष्टबाधादिप्रसक्तिः ॥४९॥

वेदोंको भी यदि बनानेवाले का योग माना जाय अर्थात् वेदोंको भी यदि बनाया हुआ माना जाय तो, जो प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है उसमें दोष आवेगा जैसे अङ्कुरका एक लगानेवाला दिखाई पड़ता है और उपादान कारण बीज दिखाई पड़ता है इस भांति वेदोंका बनानेवाला और उपादान कारण दिखाई नहीं पड़ता अतएव नित्य हैं नित्य न मानने पर प्रत्यक्ष से विरोध होगा। वेदोंको जो अपौरुषेय कहा है उसमें यह शङ्का होती है कि पौरुषेय किसे कहते हैं और अपौरुषेय किसे कहते हैं इस सन्देहको दूर करनेके निमित्त पौरुषेयका लक्षण करते हैं कि ॥ ४९ ॥

यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत्पौरुषेयम् ॥५०॥

कि जिसका कर्त्ता चाहे दिखाई न पड़े तोभी पदार्थके देखनेसे यह बुद्धि हो कि यह किसीका बनाया हुआ है बस इसीको पौरुषेय कहते हैं परन्तु वेदोंके देखनेसे यह बुद्धि उत्पन्न नहीं

होतो क्योंकि वेदोंको ईश्वरसे उत्पत्ति मानो गई है किन्तु उनका बनानेवाला कोई नहीं है और उत्पत्ति एवं बनानेमें इतना अन्तर है कि बीजसे अङ्कुर उत्पन्न हुआ तथा कुलालने घटको बनाया इसी भांति वेदोंकी उत्पत्ति मानी गई है किन्तु वह उत्पत्ति घटादिकी भांति नहीं हैं अतएव वेद अपौरुषेय हैं। अब यह सन्देह होता है कि जब वेदोंमें भी वही अर्थ है जो कि लौकिक बातों है तब वेदको क्यों प्रमाण माना जाय ? इसका उत्तर यह है कि ॥ ५० ॥

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम् ॥५१॥

वेदोंकी जो स्वाभाविकी शक्ति है अर्थात् जिस (वेद) के जाननेसे आयुर्वेद कला-कौशल आदि सब विद्याओंकी प्रकटता होती है वह वेद स्वतः प्रमाण है उसमें दूसरे प्रमाणकी आवश्यकता नहीं क्योंकि जो स्वयं दूसरोंका प्रमाण है उसका प्रमाण कोन हो सकता है ? जैसे सेर, दुसेरी आदि मापक पदार्थ तोलनेके लिये प्रमाण हैं परन्तु सेर दुसेरी आदि क्यों प्रमाण हैं यह शङ्का नहीं हो सकती किन्तु उन्हें स्वतः प्रमाण मानना पड़ेगा ; इसी भांति वेदोंको भी समझना चाहिये॥ पहले जो 'न त्रिभिः' इस ४१ वें सूत्रमें नास्तिकने यह पूर्वपक्ष किया था कि वेदका अर्थ नहीं हो सकता उसका उत्तर-पक्ष वहां भी प्रतिपादन किया और अब फिर उसीको दृष्टान्त आदिसे प्रतिपादन करते हैं ॥ ५१ ॥

नासतः ख्यानं नृशृङ्गवत् ॥ ५२ ॥

मनुष्यके सींगकी भांति जो पदार्थ नहीं है उसका कथनभी

नहीं बन सकता, इसी भांति यदि वेदोंका कुछभी अर्थ न होता तो क्यों वृद्धलोग परम्परासे शिष्योंको पढ़ा कर प्रसिद्ध करते ? इस से वेदका अर्थ मानना ही पड़ेगा ॥ ५२ ॥

न सतो बाधदर्शनात् ॥५३॥

और जो पदार्थ सत् है उसका बाध (नाश) नहीं होता अतएव वेदार्थ नहीं है ऐसा नहीं कह सकते । अब यह सन्देह होता है कि 'वेदार्थ है या नहीं है', ऐसे झगड़ेमें न पड़ कर सीधा यही न कह दिया जावे कि वेदका अर्थ है तो सही पर कहनेमें नहीं आता इस शङ्काका उत्तर यह है कि ॥५३॥

नानिर्वचनीयस्य तदभावात् ॥ ५४ ॥

वेदके अर्थको अनिर्वचनीय कल्पना करना भी ठीक नहीं होसकता क्योंकि जो कहनेमें न आवे ऐसा कोई पदार्थ लोकमें दिखाई नहीं पड़ता और कल्पनाभी ऐसेही पदार्थ की कीजाती है जैसा कि लोकमें देखा जाय अतएव अनिर्वचनीय मानना भी ठीक नहीं ॥ ५४ ॥

नान्यथाख्यातिः स्ववचोव्याघातात् ॥ ५५ ॥

अन्यथा ख्याति,* भी नहीं कह सकते क्योंकि उस प्रकार कहने पर अपने ही कहने में दोष आता है। इस सूत्रका

* अन्यथा ख्याति उसे कहते हैं कि जो पदार्थ दूसरा हो और दूसरी भांति प्रसिद्ध किया जाय। जैसे सीपमें चांदीका प्रसिद्ध करना।

आशय यह है कि 'वेदका अर्थ दूसरा है किन्तु लोकमें दूसरे प्रकारसे प्रसिद्ध हो रहा है' इस प्रकारकी अन्यथाऽऽख्याति करने पर यह दोष होगा कि जो लोग वेदका अर्थही न मानकर अनिर्वचनीय कहते हैं वह अन्यथा ख्यातिको स्वीकार क्यों कर सकते हैं ? यह कथन उनके वचनही से विरुद्ध होगा ॥ ५५ ॥

सदसत्ख्यातिर्बाधाबाधात् ॥ ५६ ॥

यदि 'है' और 'नहीं भी है' इस प्रकार वेदोंका अर्थ माना जाय क्योंकि जो लोकमें चतुर नहीं है उनको वेदके अर्थका बाध (अप्रतीति) होता है और जो लोकमें चतुर है उसे अबाध (प्रतीति) होता है इस भांति "स्यादस्ति स्यान्नास्ति" इस जैनों के मतानुसारही माना जावे तोभी ठीक नहीं। इस सूत्रमें पूर्व सूत्रसे नकारकी अनुवृत्ति होती है। "नासत:ख्यानं नृश्टङ्गवत्" इस सूत्रसे लेकर ५६ वें सूत्र तक जो अर्थ विज्ञान-भिक्षुने किया है और "गुणादीनां नात्यन्तबाध:" इस सूत्रवाले आशयसे मिलाया है वह ठीक नहीं क्योंकि वैसा अर्थ करनेसे प्रसङ्गमें विरोध आता है। दूसरे यह कि इस ५६ वें सूत्रको जो कपिल-मुनिके सिद्धान्त पक्षमें रखकर गुणोंका बाध और अबाध दोनों ही माने हैं वहभी ठीक नहीं, क्योंकि "न तादृक् पदार्थाप्रतीते:" इस सूत्रमें आचार्य पूर्वही कह चुके हैं कि असत् और सत् इन दोनों धर्मोंवाला कोई पदार्थ लोकमें प्रतीत नहीं होता ; फिर क्या आचार्यभी अज्ञान भिक्षुकी भांति ज्ञान रहित थे जो अपने पूर्वापर कथनको ध्यानमें न रख कर गुणोंको सत् और असत् उभयरूप कहते। यहां तक वेदोंकी उत्पत्ति और नित्यता

प्रतिपादन कर चुके। अब शब्दके सम्बन्धमें विचार करते हैं ॥५६॥

प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः ॥ ५७ ॥

जो शब्द मुखसे निकलता है उस शब्दके अतिरिक्त, जो उस शब्द में अर्थका ज्ञान करानेवाली शक्ति है उसे स्फोट * कहते हैं इससे यह न समझ लेना चाहिये कि घट इतना मुखसे निकलने पर कम्बु ग्रीवा वाला जो पदार्थ है उसीका नाम घट है किन्तु जिस शक्तिसे उसका बोध होता है वही स्फोट कहाता है किन्तु स्फोटात्मक शब्द नहीं हो सकता क्योंकि इसमें दोप्रकार के तर्क हो सकते हैं कि शब्दकी प्रतीति होती है वा नहीं ? यदि प्रतीति होती है तब तो जिस अर्थवाले वर्ण समूहसे पूर्वापर मिला कर अर्थकी प्रतीति और वाच्य (कहने योग्य) वस्तु का बोध है उसके अतिरिक्त स्फोटको मानना निरर्थक है क्योंकि शब्दसे ही अर्थ ज्ञान हुआ, स्फोटसे नहीं। और यदि यह कहो कि शब्दकी प्रतीति नहीं होती तब अर्थही नहीं, फिर स्फोटमें

---

* स्फोटवाद एक वैयाकरणों का मत है महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलिसे भी पहलेका है क्योंकि व्याकरण महाभाष्यमें इसका जिक्र है और इसका विशेष झगड़ा वैयाकरण-भूषणमें पाया जाता है परन्तु महर्षि कपिल उसे नहीं मानते क्योंकि निरर्थक झगड़ा है। स्फोटबादके जाननेवाले विद्वानोंकी संख्या भारतमें बहुतही न्यून रह गई है अतएव सम्भव होता है कि यदि ऐसीही दशा रही तो स्फोटबाद लुप्त होजायगा।

यह शक्ति कहांसे आई जो बिना अर्थके अर्थकी प्रतीति करा सके इससे स्फोटकी कल्पना करना व्यर्थ है । अब यह पूर्वपक्ष किया जाता है कि शब्द नित्य नहीं है ॥ ५७ ॥

न शब्दनित्यत्वं कार्य्यताप्रतीतेः ॥ ५८ ॥

शब्द नित्य नहीं है क्योंकि यह गकार उत्पन्न हुआ इत्यादि अनुभवोंसे मालूम पड़ता है कि शब्दभी कार्य्य है । इस पूर्वपक्ष का उत्तर यह है कि ॥ ५८ ॥

पूर्वसिद्धसत्त्वस्याभिव्यक्तिर्दीपेनैव घटस्य ॥ ५९ ॥

जिस शब्दकी सत्ता (होना) पूर्वहीसे सिद्ध है उसका उच्चारण करके केवल प्रकटता मात्रकी जाती किन्तु उसकी (शब्दकी)उत्पत्ति नहीं होती जैसे जो घट अन्धेरेमें रखा था उसे दीपकके प्रकाशसे प्रकट कर दिया किन्तु इससे यह नहीं हो सकता कि दीपकसे घट उत्पन्न हुआ इसी भांति शब्द पूर्वहीसे सिद्ध है कथनसे केवल प्रकटता मात्र होती है अतएव शब्द नित्य है । इस स्थल परभी अज्ञान भिक्षुने खूबही उलटा अर्थ लगाकर अज्ञानता दिखाई है परन्तु विस्तर भयसे हम उसका उल्लेख नहीं करते ॥ ५९ ॥

सत्कार्यसिद्धान्तश्चेत् सिद्ध-साधनम् ॥ ६० ॥

यदि यह कहो कि कार्य्य जिस अवस्थामें दिखाई पड़ता है उसी अवस्थामें सत् है और अवस्थाओंमें असत् है इसी भांति शब्दभी कार्य्य है और अपनी अवस्थामें सत् है ऐसा मानेंगे तो

आचार्य्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर हम० शब्दके सम्बन्धमें सिद्ध-साधन कहेंगे अर्थात् जो शब्द पूर्व हृदिस्थ था उसीको उच्चारण आदि क्रियाओंसे स्पष्ट किया किन्तु घटादिकी भांति बनाया नहीं। यह शब्दका बिचार यहीं तक समाप्त हुआ इससे आगे जीव एक है वा अनेक इस बिषय पर बिचार आरम्भ करेंगे ॥ ६० ॥

नाद्वैतमात्मनो लिङ्गात् तद्भेदप्रतीतेः ॥ ६१ ॥

जीव एकही नहीं हैं क्योंकि अनेक व्यक्तियोंमें अनेक जीव हैं इस चिह्नसे उसके भेद अर्थात् बहुत होना सिद्ध होता है। इस सूत्रका दूसरा अर्थ यह भी होसकता है कि जीव और ईश्वर इन दोनोंका अभेद मानकर जो अद्वैत माना जाता है वह ठीक नहीं है क्योंकि जीवके जो अल्पज्ञादि चिह्न हैं और ईश्वरके जो सर्वज्ञादि चिह्न हैं उनसे दोनोंमें भेद प्रतीत होता है ॥ ६१ ॥

नानात्मनापि प्रत्यक्षबाधात् ॥ ६२ ॥

अनात्म जो सुख दुःखादिकोंके भोग हैं उनसे भी यही सिद्ध होता है कि जीव एक नहीं है क्योंकि एक मानने पर प्रत्यक्षमें विरोध आता है लोकमें देखा जाता है कि सुख दुःख अनेक व्यक्ति एक कालही में भोग करते हैं। दूसरे पक्षमें ऐसा अर्थ इस प्रकार लगाना चाहिये कि जो लोग एकही आत्माके अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते उनके सिद्धान्तमें पूर्वोक्त दोषके अतिरिक्त एक दोष यह भी होगा कि घटादिक कार्य्योंको भी आत्मा मनकर उनके नाश होतेही आत्माका नाश मानना

पड़ेगा यह प्रत्यक्षसे विरोध होगा अतएव वैसा अद्वैत मानना ठीक नहीं ॥ ६२ ॥

नोभाभ्यां तेनैव ॥ ६३ ॥

उसी, प्रत्यक्ष प्रमाणमें बाधा पहुंचनेके कारण, आत्मा और अनात्मासे एकता कहना ठीक नहीं। इस सूत्रका आशय यह हुआ कि जब पूर्वोक्त रीति पर एक आत्मा ही माननेपर प्रत्यक्ष प्रमाणमें बाधा पहुंचतीहै और देखा जाता है कि लोकमें आत्म और अनात्म दो पदार्थ भिन्न दिखाई पड़ते हैं तब "एक आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं" यह कथन ठीक नहीं हो सकता। अब यह सन्देह होता है कि जब ऐसा माना जाता है तब "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" "आत्मैवेदं सर्वम्" (एक ही ब्रह्म अद्वितीय है) (यह सब आत्मा ही है) इत्यादि श्रुतियां एक ही आत्मा बताती हैं तब बहुतसे आत्मा वा जीव ब्रह्म पृथक् पृथक् क्यों माने जाँय? इसका समाधान यह है कि ॥६३॥

अन्यपरत्वमविवेकानां तत्र ॥ ६४ ॥

उन श्रुतियोंमें अन्य-परत्व अर्थात् अद्वैत है ऐसा मूर्खोंको प्रतीत होता है जो विद्वान् हैं वह उन श्रुतियोंका वैसा अर्थ नहीं लगाते क्योंकि वहां अद्वितीय शब्दसे यह अभिप्राय है कि ईश्वरके सदृश कोई दूसरा नहीं। जो एक आत्मा ही मानते हैं उनके मतमें जगत्का उपादान कारणही ठीक नहीं हो सकता क्योंकि ॥ ६४ ॥

नात्माविद्या नोभयं जगदुपादानकारणं निःसङ्गत्वात् ॥ ६५ ॥

आत्मा तो जगत्का उपादान कारण यों नहीं हो सकता कि वह कूटस्थ (निर्विकार) है और अविद्या यों नहीं हो सकती कि उसे सत् माननेमें द्वैतापत्ति और असत् मानने पर वन्ध्या पुत्रके समान अभाववती हो जायगी अतएव उसे भी नहीं मान सकते। और आत्मा तथा अविद्या दोनों मिल कर जगत्का उपादान कारणयों नहीं हो सकते कि आत्मा संग-रहित है इसी लिये जो एक आत्माके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं मानते उनके मतमें जगत्का उपादान कारण सिद्ध नहीं होता है ॥६५॥

नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात् ॥ ६६ ॥

ईश्वरको वेदादिकोंमें सच्चिदानन्द स्वरूप कहा है और जीवमें आनन्द और चिद्रूप नहीं है इसीसे दोनोंका भेद सिद्ध है ॥ अब इसमें यह सन्देह होता है कि जब जीवमें आनन्द नहीं मानते तो मुक्तिका उपदेश क्यों दिया ? क्योंकि मुक्ति अव-स्थामें दुःख निवृत्त हो जाने पर आनन्द होता ही है इसका समाधान यह है कि ॥ ६६ ॥

दुःखनिवृत्तेर्गौणः ॥ ६७ ॥

मुक्ति अवस्थामें जो दुःख निवृत्तका सिद्धान्त कहा वह गौण है अर्थात् यद्यपि मुक्ति अवस्थामें दुःखकी निवृत्ति होती है

परन्तु उस समय भी जीवमें कर्मोंकी वासना बनी रहनेके कारण फिरभी दुःख उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है अतएव जीवको सदैव आनन्द नहीं रहता इसीसे उसे आनन्द स्वरूप नहीं कह सकते। आनन्द स्वरूप तो ईश्वर ही है। अब यदि कोई यह कहे कि जब आपकी एसी मुक्ति है जिसके होने पर फिर भी कालान्तरमें दुःख उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है तो उसको अपेक्षा बद्ध रहना ही अच्छा, इस पर कहते हैं कि ॥६७॥

विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम् ॥ ६८ ॥

विमुक्ति अर्थात् बद्ध रहनेकी ही प्रशंसा करना मूर्खोंका काम है क्योंकि जैसे कोई मनुष्य किसी भारी रोगमें ग्रसित हो उससे वैद्य कहेकि "मेरी दवा तेरे रोगको दूर तो कर देगी और तू नीरोग भी हो जायगा परन्तु सदैवके लिये रोग न जायगा" तब क्या रोगीको उचित है कि एसी औषधको न खाय? अवश्यखानी चाहिये क्योंकि जितने दिवसको रोग दूर हुआ उतने दिनतो आनन्द रहेगा इसी भांति मुक्ति भी जानो; जो एसा नहीं मानते वह मूर्ख हैं। कोई २ मनको नित्य मानते हैं उनके मतका खण्डन करते हैं ॥ ६८॥

न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा ॥ ६९ ॥

मनको भी इन्द्रिय ही माना है अथवा इन्द्रियों की प्रवृत्ति में करण(जिससे इन्द्रियों प्रवृत्त हों) माना है इसीसे मन व्यापक नहीं है ॥६९॥

सक्रियत्वाद् गतिश्रुतेः ॥ ७०॥

मन सक्रिय (जिसमें क्रिया हो) है इसी से वह प्रत्येक इन्द्रियके व्यापार और प्रवृत्तिका हेतु भी है अतएव उसकी गति सुनी जाती है। अब यह सन्देह होता है कि यदि मन नित्य नहीं मानते तो नसही किन्तु उसे निर्विभाग, कारण रहित तो मानना चाहिये तब इसका उत्तर यह है कि ॥७०॥

न निर्भागत्वं तद्योगाद्घटवत् ॥ ७१ ॥

जैसे घट आदि मृत्तिकाके कार्य हैं इसी भांति मन भी किसीका कार्य है और जब कार्य है तब उसे कारणका योग अवश्य ही होगा। इस सूत्रके अर्थमें विज्ञान-भिक्षुने निर्विभागका अर्थ निरवयवत्व करके यह आशय निकाला है कि "मन अनेक इन्द्रियोंके साथ एक ही समयमें योग रखता है अतएव निर्वि-भाग नहीं है" परन्तु यह अर्थ नितान्त ही अज्ञता पूरित है क्यों कि यदि अनेक पदार्थोंके साथ योग रखनेसे ही निर्विभागत्व असिद्ध होताहै तो ईश्वर भी जगत्के सब पदार्थोंसे व्यापकताका योग रखता है अतएव उसे भी निर्विभाग कहना नहीं बनेगा इसीसे विज्ञान-भिक्षुका अर्थ ठीक नहीं हो सकता। अब यह सन्देह होता है कि मन नित्य है वा अनित्य? इसके उत्तरमें महर्षि कपिल अपना सिद्धान्त कहते हैं कि॥ ७१ ॥

प्रकृतिपुरुषयोरन्यत् सर्वमनित्यम् ॥ ७२ ॥

* प्रकृति और पुरुषके सिवाय जो कुछ इनके कार्य्य (मन

---

* पुरुषश्च पुरुषश्च पुरुषौ "स्वरूपाणामेक-शेष एकविभक्तौ"

आदिक हैं) वह सब अनित्य हैं। इस सूत्रसे यह न समझ लेना चाहिये कि कपिलमुनि ईश्वरको नहीं मानते थे अतएव उसे नित्योंमें परिगणित नहीं किया क्योंकि प्रथमतो जब संसारके पदार्थोंकी नित्यता और अनित्यता पर विचार करते हैं तब ईश्वरकी नित्यता अनित्यताका यहां प्रसङ्गही क्या है ? और यदि हठात् कोई इस प्रकार सन्तुष्ट न हो तो पुरुष शब्दके कथन से ईश्वरका भी ग्रहण होता है क्योंकि सर्वत्र पूर्ण होनेसे ईश्वर का नाम पुरुष और शरीरमें शयन करने से जीवका भी नाम पुरुष है। अब यह सन्देह होता है कि प्रकृति और पुरुषही नित्य क्यों है ? इसका उत्तर यह है कि ॥ ७२ ॥

न भागलाभो भोगिनो निर्भागत्वश्रुतेः ॥ ७३ ॥

जो स्वयं कारण रूप है उसका (कारणका) और कोई कारण नहीं बनसकता एवं उसे सब, कारण रहित मानते आये हैं अतएव प्रकृति और पुरुष नित्य हैं। इस सूत्रका आशय यह हुआ कि जब प्रकृति और पुरुष स्वयं ही जगत्का कारण कहे जाते हैं तब उनका कारण और कोई नहीं हो सकता जैसा कि "मूले मूलाभावादमूलं मूलम्" इस सूत्रसे बता चुके हैं जब प्रकृति और पुरुष कारण रहित हैं तब नित्य

इस पाणिनीय सूत्रसे एक शेष समास करके ईश्वर और जीव दोनों को पुरुष शब्दसे बोधित किया है ईश्वरका पृथक् नाम इस लिये नहीं लिया कि जब एक शब्द दोनों अर्थोंका बोधक है तो पृथक् नाम लेकर क्यों अक्षर बढ़ाये जावें ?

भी अवश्य ही हैं। अब यह सन्देह होता है कि पुरुषकी मुक्ति क्यों मानी जाती है? इस शङ्काका समाधान अगले सूत्रोंसे करते हैं॥७३॥

नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात् ॥ ७४ ॥

प्रधानको आनन्दकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती अतएव उसकी मुक्तिभी नहीं कह सकते क्योंकि आनन्द प्रधानका धर्म नहीं है ॥ ७४ ॥

न विशेषगुणोच्छित्तिस्तद्वत् ॥ ७५ ॥

सत्व, रज, तम, इनका नाश हो जाना भी मुक्ति नहीं हो सकती क्योंकि उपरोक्त तीन गुण प्रधानके स्वाभाविक धर्म हैं उनका नाश होना प्रधानका धर्म नहीं है इसीसे उसकी मुक्ति नहीं मानी जाती ॥ ७५ ॥

न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य ॥ ७६ ॥

किसी प्रकारकी विशेष गति अर्थात् ऊपर नीचे जाना आना यह भी मुक्ति नहीं हो सकती क्योंकि प्रधान निष्क्रिय है जितनी क्रिया है वह पुरुषके संसर्गसे होती है प्रधान स्वयं नहीं कर सकता ॥ ७६ ॥

नाकारोपरागोच्छित्तिः क्षणिकत्वादिदोषात् ॥ ७७ ॥

आकारके सम्बन्धको छोड़ देनेका नाम भी मुक्ति नहीं हो सकती क्योंकि उसमें क्षणिकत्व आदि दोष आते हैं। इस सूत्रका आशय यह है कि जैसे प्रकृतिका आकार घट है उसका फूट

जाना यही प्रकृतिको मुक्तिमानली जाय वह ठीक नहीं हो सकता क्योंकि उसमें चणिकत्व आदि अनेक दोष आवेंगे। अर्थात् अभी एक घट फूटा तब तक दूसरा बनकर तयार हो गया इत्यादि कारणोंसे प्रधानकी मुक्ति नहीं मानी जा सकती ॥ ७७ ॥

न सर्वोच्छित्तिरपुरुषार्थत्वादिदोषात् ॥ ७८ ॥

सबका छोड़ देनाभी मोच नहीं हो सकती यदि प्रधान सबको (सृष्टि रचना आदि) छोड़दे तोभी उसकी मुक्ति कहना नहीं बनसकता क्योंकि प्रधानके सब कार्य्य पुरुषके लिये हैं जैसा कि "विमुक्तमोचार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य" इस सूत्रमें कह आये हैं फिर अपुरुषार्थत्व हो जावेगा ॥ ७८ ॥

एवं शून्यमपि ॥ ७९ ॥

और (पुरुषके लिये न होना) उपरोक्त प्रकारसे यदि सब को छोड़ देनाही प्रधानकी मुक्तिका लचण मानभी लिया जावे तो वह मुक्ति शून्य रहेगी अर्थात् आनन्द न होनेसे किसी काम की नहीं है अतएव वह पच ठीक नहीं ॥ ७९ ॥

संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादिलाभोऽपि ॥८०॥

यदि कहो कि पुरुषके साथ रहनेवाली प्रकृति किसी विशेष देशमें पुरुषको छोड़दे वही मुक्ति क्यों न मानली जावे ? तो उसके उत्तर पचमें यह सूत्र है। कि जो संयोग है वह तो वियोगान्त होता ही है फिर किसी देशमें जाकर वियोग हुआ तब क्या

मुक्ति हो सकती है ? कदापि नहीं इसी भांति जब प्रकृति और पुरुषका संयोग है तो वियोग भी अवश्य होगा उसमें फिर देश-लाभ होने हीसे क्या मुक्ति हो सकती है ? ॥ ८० ॥

न भागि-योगो भागस्य ॥ ८१ ॥

महत्तत्व आदिक जो प्रधानके भाग (अंश) हैं उनका अपने भागी अर्थात् प्रधानमें मिलजाना यह भी मुक्तिका लक्षण नहीं हो सकता क्योंकि वह तो उसमें मिलते ही हैं ॥ ८१ ॥

नाणिमादियोगोऽप्यवश्यं भावित्वात् तदुच्छित्ते-रितरयोगवत् ॥ ८२ ॥

पुरुषके योगसे अणिमादि ऐश्वर्य्यका योग होनाभी प्रधान की मुक्तिका लक्षण नहीं है क्योंकि जो योग है उसका तो वियोग अवश्यही होगा जैसा कि दूसरे पदार्थोंमें प्रतीत होता है ॥ ८२ ॥

नेन्द्रादिपदयोगोऽपि तद्वत् ॥ ८३ ॥

पुरुषके योगसे इन्द्रादि पद तक पहुंच जानाभी प्रधानकी मुक्तिका लक्षण नहीं हो सकता क्योंकि यह सबभी पूर्वोक्त दोषों से दूषित हैं अर्थात् नाशवान् हैं॥ प्रधानकी मुक्ति क्यों नहीं होती यह जो पूर्वपक्ष किया था उसका उत्तर पक्ष यहां तक समाप्त हो गया। इससे आगे "अहङ्कारिकत्व-श्रुतेर्नभौतिकानि" इस सूत्र में जो बात सूक्ष्मरीतिसे कही है उसीको कहते हैं ॥ ८३ ॥

न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहङ्कारिकत्वश्रुतेः ॥८४॥

इन्द्रियोंकी भौतिक प्रकृति नहीं है अर्थात् जो बात पृथिव्यादि भूतोंमें पाई जाती है वह इन्द्रियों में नहीं है अतएव इन्द्रिय भौतिक नहीं है किन्तु अहङ्कारसे उत्पन्न हुई हैं। अब यह सन्देह होता है कि सांख्यके मतानुसार प्रकृति और पुरुषका ज्ञान होना ही मुक्तिका हेतु है किन्तु वैशेषिकादिकोंने जो छः पदार्थ माने उनके ज्ञानसे मुक्ति क्यों नहीं हो सकती इसका उत्तर यह है कि ॥ ८४ ॥

न षट्पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः ॥ ८५ ॥

'पदार्थ छः से अधिक नहीं हैं' यह नियम नहीं किन्तु असंख्य पदार्थ हैं अतएव जब असंख्य पदार्थ जाननेको हैं तो छः पदार्थोंके जानलेने से ही मुक्ति नहीं हो सकती ॥ ८५ ॥

षोड़शादिष्वप्येवम् ॥ ८६ ॥

गौतमादिक जो कोई सोलह पदार्थ मानते हैं किम्वा इनसे अधिक कोई पच्चीश पदार्थ मानते हैं उनके ज्ञानसे भी मुक्ति नहीं हो सकती क्योंकि असंख्य पदार्थ हैं। अब यह सन्देह होता है कि वैशेषिकादिकोंका मत दूषित क्यों किया जाता है क्योंकि वह तो पृथिवी आदिके अणुओंको नित्य मानते हैं इसका उत्तर यह है कि ॥ ८६ ॥

नाणुनित्यता तत्कार्य्यत्वश्रुतेः ॥ ८७ ॥

पृथिवी आदिके अणुओंको नित्य नहीं कह सकते क्योंकि उन्हें श्रुतियोंमें कार्य्यरूप कहा है। किस श्रुतिमें अणुओंको कार्य्य-

रूप कहां है वह श्रुति तो आचार्य्यने ही कहीं पर देखी होगी किन्तु हमारी दृष्टिमें नहीं आती परन्तु अणुओंको कार्य्यरूप बतानेवाली श्रुति होगी अवश्य, क्योंकि मनुने भी पृथिवी आदि के अणुओंको विनाशी माना है यथा—

अण्व्योमात्रा विनाशिन्यो दशार्द्धानां तु याः स्मृताः।
ताभिः सार्द्धमिदं सर्वं सम्भवत्यनुपूर्वशः ॥ अ० १ श्लो० २७ ॥

इसका अर्थ यह है कि विनाश होनेवाली जो पञ्चभूत (पृथिवी आदि) की अणुमात्रा (छोटीमात्रा) हैं उनके साथ यह जगत् उत्पन्न होता है। इससे विदित होता है कि आचार्यने अवश्य कोई श्रुति एसी देखी होगी जिसमें अणुओंको कार्य रूप लिखा हो नहीं तो मनुभी विनाशी क्यों कहते ?। अणुओंके कार्यरूप होनेमें तो यही युक्ति उत्तम है कि जब पृथिवी आदि साकार हैं तो उनके अणु भी साकार ही होंगे जब साकार हुए तो किसीका कार्यभी अवश्य हुए इससे पृथिवी आदिके अणुओंको नित्य नहीं कह सकते। अब रहा यह सन्देह कि यदि अणु नित्य नहीं तो न सही किन्तु उनका कोई कारण नहीं दीखपड़ता इससे उन्हें कारण रहित तो मानना चाहिये ? इसका उत्तर यह है कि ॥ ८७ ॥

न निर्भागत्वं कार्य्यत्वात् ॥ ८८ ॥

जब अणुकार्य हैं तब उन्हें कारण रहित नहीं कह सकते क्यों कि जो कार्य है उसका कोई कारण भी अवश्य ही होगा। अब यह सन्देह होता है कि जब प्रकृति और पुरुष दोनों ही आकार रहित है तो उनका प्रत्यक्ष किसप्रकार हो सकता है ?

क्योंकि जब तक रूप न होगा तब तक प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता * इसका उत्तर यह है कि ॥ ८८ ॥

न रूपनिबन्धनात् प्रत्यक्षनियमः ॥ ८९ ॥

बिना रूपके प्रत्यक्ष न हो यह कोई नियम नहीं है। क्योंकि जो बाहरकी चीज है उसके देखनेके लिये अवश्यमेव इन्द्रिय से योगकी अवश्यकता रहती है, किन्तु जो ज्ञानसे जाना जाता है उसके सरूपवान् होनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती और नास्तिक लोग जो यह कहते हैं कि साकार पदार्थही प्रत्यक्ष होते हैं निराकार नहीं होते यह भी नियम ठीक नहीं क्योंकि जब नेत्र आदि इन्द्रियोंमें दोष होता है तब सन्मुख रखे हुए घटका भी प्रत्यक्ष नहीं होता इसीसे सिद्ध हुआ कि पदार्थका सरूपत्व होना प्रत्यक्ष होनेमें नियम नहीं किन्तु इन्द्रियकी स्वच्छता हेतु है। अब यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि आपने जो अणुओंको कार्यरूप कह कर अनित्य सिद्ध कर दिया तो क्या अणु कोई वस्तु आपके मतमें है या नहीं? इस पर आचार्य अपना मत कहते हैं ॥८९॥

न परिमाणचातुर्विध्यं द्वाभ्यां तद्योगात् ॥ ९० ॥

जो लोग अणु, महद्, दीर्घ, ह्रस्व, यह चार प्रकारके परिमाण मानते हैं वह ठीक नहीं क्योंकि जो बात वह लोग चार विभाग मानकर सिद्ध करते हैं वह बात अणु और महत् इस

---

* बिना रूपके प्रत्यक्ष नहीं होता ऐसा नास्तिक लोग मानते हैं अतएव यह पूर्वपक्ष भी नास्तिक होका है।

दो प्रकारके परिमाणसे भी सिद्ध हो जाती है दीर्घ और ह्रस्व यह दोनों महत्के अवान्तर भेद हैं यदि इसी प्रकार गणना बढ़ानी हो तो एक तिरछा अणु, एक सीधा अणु, ऐसे ही बहुत से भेद कल्पना किये जासकते हैं परन्तु वह कल्पना ठीक नहीं हो सकती और हमने (आचार्यने) जो अणुओंको अनित्य कहा था वह केवल वैशेषिकादिके मतको दूषित करनेके लिये पृथिवी आदिके अणुओंको अनित्य कहा था किन्तु अणु परिमाण द्रव्योंको अनित्य नहीं किया था क्योंकि इसमेंभी तो अणु नित्य मानने पड़ते हैं ॥ अब यह सन्देह होता है कि जब प्रकृति और पुरुषके अतिरिक्त सबको अनित्य कहा तो प्रत्यभिज्ञा * किस प्रकार हो सकती है क्योंकि जब सब पदार्थोंको नाशवान् मानलेंगे तब प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती इसका उत्तर यह है कि ॥ ९० ॥

अनित्यत्वेऽपि स्थिरतायोगात् प्रत्यभिज्ञानं सामान्यस्य ॥ ९१ ॥

यद्यपि प्रकृति और पुरुषके अतिरिक्त जितने सामान्य पदार्थ हैं वह अनित्य हैं तोभी हम उन्हें स्थिर मानते हैं किन्तु क्षणिक-वादियोंकी भांति प्रतिक्षणमें परिवर्त्तनशील नहीं मानते इसीसे प्रत्यभिज्ञा हो सकती है ॥ ९१ ॥

न तदपलापस्तस्मात् ॥ ९२ ॥

अतएव सामान्य कुछ पदार्थ न रहा ऐसा नहीं कह सकते।

---

* प्रत्यभिज्ञाका लक्षण प्रथम पादमें करचुके हैं।

परन्तु सामान्य पदार्थ नित्य नहीं है यही कह सकते हैं किन्तु सामान्य कुछ है ही नहीं यह कह सकते ॥ ९२ ॥

नान्यनिवृत्तिरूपत्वं भावप्रतीतेः ॥ ९३ ॥

* सामान्य पदार्थोंको अन्य-निवृत्तरूप अर्थात् अनित्य नहीं कह सकते क्योंकि उनकी विद्यमानता दिखाई पड़ती है। इस सूत्रका आशय यह है कि जब आचार्य्य प्रकृति और पुरुषके अतिरिक्त सबको अनित्य मानते हैं तो प्रत्यभिज्ञा न हो सकेगी उस शङ्काको दूरकरनेके निमित्त यह सूत्र कहा गया है कि सामान्य पदार्थ सर्वथा अनित्य नहीं हो सकते क्योंकि उनकीभी प्रतीति होती है। अब यह सन्देह होता है कि प्रत्यभिज्ञाके लिये सामान्य पदार्थों को स्थिर माननेकी क्या आवश्यकता है?। क्योंकि जिस पदार्थमें प्रत्यभिज्ञा होती है वैसाही दूसरा पदार्थ हो उसमें भी प्रत्यभिज्ञा हो सकती है जैसे किसी समयमें घट को देखा था कुछ दिनोंके उपरान्त उसी प्रकारका एक घट और देखा उसमें भी यही व्यवहार हो सकता है कि जो पहले घट देखा था वही यह है क्योंकि दोनों घट समान है आचार्य्य इस मन्तव्यको अयुक्त सिद्ध करते हैं कि ॥ ९३ ॥

न तत्त्वान्तरं सादृश्यं प्रत्यक्षोपलब्धेः ॥ ९४ ॥

एक घटके समान दूसरा घट प्रत्यभिज्ञाका हेतु नहीं हो सकता क्योंकि यह बात प्रत्यक्षही से देखली जाती है कि जो घट पूर्वकालमें देखा था उसमें और दूसरे घटमें विभेद (फर्क)

---

* अन्यशब्देनात्र नित्यस्य ग्रहणं क्रियतेऽनित्यस्य प्रसङ्गत्वात् ।

है अतएव सदृश पदार्थ प्रत्यभिज्ञाका हेतु नहीं है इसीसे सामान्य पदार्थ और उनकी स्थिरता स्वीकार करनी पड़ेगी। अब रहा येह सन्देह कि एक घटमें जो शक्ति है दूसरे घटमें भी वही शक्ति है उसी शक्तिकी अभिव्यक्ति (प्रकटता) से प्रत्यभिज्ञा क्यों न मानी जाय ? अर्थात् सब घट एकही शक्तिवाले हैं इस नियमसे दूसरे घटके देखनेमें प्रत्यभिज्ञा क्यों न मानी जाय इस का समाधान यह है कि ॥ ९४ ॥

निजशक्त्यभिव्यक्तिर्वा वैशिष्ठ्यात् तदुपलब्धेः ॥९५॥

* घटादिकोंकी शक्तिकी प्रकटता भी प्रत्यभिज्ञामें हेतु नहीं हो सकती क्योंकि यह बात तो अर्थापत्तिसे सिद्ध है कि यदि सब घटोंमें समान शक्ति न होती तो उनका घट नाम क्यों रखा जाता अतएव समान आकृति और समान शक्ति प्रत्यभिज्ञाका हेतु नहीं हो सकती किन्तु वही पदार्थ जो कि पहले देखा हो दूसरी बार देखने पर प्रत्यभिज्ञाका हेतु होता है इससे सिद्ध हुआ कि सामान्य पदार्थ अनित्य होने परभी स्थिर हैं। और इसीसे प्रत्यभिज्ञा भी होती है। अब यह सन्देह होता है कि एक घटमें जो संज्ञा (नाम) संज्ञी (नामवाला) सम्बन्ध है वही दूसरे घटमें भी है फिर उसमें प्रत्यभिज्ञा क्यों नहीं होती तो इस का समाधान यह है कि ॥ ९५ ॥

न संज्ञासंज्ञिसम्बन्धोऽपि ॥ ९६ ॥

संज्ञा और संज्ञीका सम्बन्धभी प्रत्यभिज्ञामें हेतु नहीं हो सकता क्योंकि यह बातभी अर्थापत्तिसे जान लीजाती है कि

---

* इस सूत्रमें न कारकी अनुवृत्ति पूर्वसूत्रसे आती है।

संज्ञा संज्ञी सम्बन्ध सब घटोंमें समान होता है। परन्तु इतने पर भी अनेक घटोंमें अनेक भेद रहते हैं इसीसे प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती। और संज्ञा संज्ञी सम्बन्ध होने परभी दूसरा पदार्थ प्रत्यभिज्ञाका हेतु नहीं हो सकता क्योंकि ॥ ९६ ॥

न सम्बन्धनित्यतोभयानित्यत्वात् ॥९७॥

उनका (घट आदि पदार्थोंका सम्बन्ध नित्य नहीं है) क्योंकि घट और उसकी संज्ञा दोनोंही अनित्य हैं। इस सूत्रका भावार्थ यह है कि जिस घटको घट नामसे पुकारते थे उस घटके नष्ट होतेही उसकी संज्ञाका भी नाश होगया अब दूसरा घट और उसकी दूसरी घट संज्ञा रही जब दूसरी संज्ञा रही तो समानता न हुई और जब समानता न हुई तो फिर प्रत्यभिज्ञाकी तो बात ही दूर है क्योंकि वह उसी पदार्थमें होती है जिसे पूर्व कभी देखा हो। अब यह सन्देह होता है कि चाहैं सम्बन्धो अनित्य हों परन्तु सम्बन्ध तो नित्यही मानना चाहिये इसका उत्तर यह है कि ॥ ९७ ॥

नातः सम्बन्धो धर्मिग्राहकमान-बाधात् ॥९८॥

संज्ञा † और संज्ञी दोनोंही अनित्य सिद्ध होचुके तो उनका सम्बन्ध नित्य कैसे हो सकता है? क्योंकि सम्बन्ध जिन प्रमाणोंसे

* संज्ञा नामको कहते हैं और संज्ञी उसे कहते हैं जिस चीजका नाम हो।

† घट और मृत्तिकाका नैयायिक समवाय सम्बन्ध मानते हैं परंतु कपिलमुनि उसे समवाय सम्बन्ध कह कर नहीं पुकारते किन्तु उपादान सम्बंध वा कार्य्यकारण संबंध मानते हैं।

सिद्ध होतीं हैं उनसे उपरोक्त बात सिद्ध नहीं होतीं। इसका आशय यह है कि यह बात ठीक नहीं हो सकती कि 'सम्बन्धी अनित्य हों और उनका सम्बन्ध नित्य हो' अब रहा यह सन्देह कि गुण और गुणीका नित्य समवाय संबंध सुना जाता है और वास्तवमें वह दोनोंही अनित्य हैं यह कैसे ठीक होगा इसका उत्तर यह है कि ॥ ९८ ॥

न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात् ॥ ९९ ॥

समवाय कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि उस प्रकारके सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं है। इसी सूत्रके आशयको अगले सूत्रसे पुष्ट करते हैं ॥ ९९ ॥

उभयत्राप्यन्यथासिद्धेर्नप्रत्यक्षमनुमानं वा ॥१००॥

घट मृत्तिकासे बना है अथवा बना होगा इन दोनों प्रकार के ज्ञानोंमें अन्यथा सिद्धि है अतएव समवायको माननेकी कोई आवश्यकता नहीं। इससूत्रका भाव यह है कि घटका उपादान कारण मृत्तिका है यह बात प्रत्यक्ष भी देखी जाती है, और अनुमानभी करली जाती है एवं यहभी उक्त प्रमाणोंसे सिद्ध हुआ कि विना मृत्तिकाके घट बन नहीं सकता अतएव घट और मृत्तिकाका नित्य सम्बन्ध हुआ किन्तु समवाय कोई सम्बन्ध नहीं है अब रहा यह संदेह कि यदि समवाय सम्बन्ध न माना जाय तो दो कपालोंका * संयोग घटकी उत्पत्तिमें हेतु होता है उसे

---

* जिन दो अवयवोंसे मिलकर घट बनता है उसे कपाल कहते हैं।

क्या कहकर पुकारेंगे किम्बा यह कैसे जानेंगे कि दो कपालोंका संयोग घटकी उत्पत्तिमें हेतु है इसका समाधान यह है कि ॥१००॥

नानुमेयत्वमेव क्रियाया नेदिष्ठस्य तत्तद्वतोरेवा-परोक्षप्रतीतेः ॥ १०१ ॥

क्रिया और क्रियावान्का संयोग हो कर घट उत्पन्न होता है यह बात अनुमानसे जाननेकी भी कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि समीपवर्त्ती कुलालको क्रियाको प्रत्यक्ष देख कर हो जानलेते हैं कि दो कपालोंके संयोगसे घट उत्पन्न होता है अतएव जब तक घट रहेगा तब तक वह सम्बन्धभी अवश्यही रहेगा इसके लिये समवायके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं ॥ पहले किसीका मत कह चुके हैं कि शरीर पांच भौतिक है अब उस मतकी सत्यासत्यता दिखाते हैं ॥१०१॥

न पाञ्चभौतिकं शरीरं बहूनामुपादानायोगात् ॥१०२॥

*पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, इन पांच भूतोंसे शरीर की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि बहुतसी चीजें एक पदार्थ का उपादान कारण नहीं हो सकती अतएव शरीर केवल पार्थिव ही कहना चाहिये और जो अग्नि आदि चार भूत इसमें बताये जाते हैं वह नाम मात्र हैं ॥ कोई २ स्थूल शरीर ही को मानते हैं उनका मत अयुक्त सिद्ध करते हैं कि ॥१०२॥

---

* इसका पूरा आशय १०९ और ११० वें सूत्रों को पढ़नेसे मालूम होगा

न स्थूलमिति नियम आतिवाहिकस्यापि विद्यमानत्वात् ॥ १०३ ॥

स्थूल ही शरीर है यह नियम नहीं है क्योंकि आतिवाहिक अर्थात् लिङ्ग शरीर भी विद्यमान है और यदि लिङ्ग शरीर न हो तो स्थूल शरीरमें कोई क्रिया नहीं हो सकती यह बात तीसरे अध्याय ही में प्रकाशित कर चुके हैं जैसे तेल और बत्ती-रूपसे उत्पन्न हुई दीप शिखा समस्त घरका प्रकाश कर देती है इसी भांति लिङ्ग शरीर भी स्थूल शरीरोंको अनेक व्यापारोंमें लगाता है ॥ यह बात पहले ही लिख चुके हैं कि इन्द्रिय, गोलकोंके अतिरिक्त हैं उसीको प्रतिपादन करनेके निमित्त इन्द्रियोंकी शक्ति कहते हैं ॥ ॥१०३ ॥

नाप्राप्तप्रकाशकत्वमिन्द्रियाणामप्राप्तेः सर्वप्राप्तेर्वा ॥ १०४ ॥

जिस पदार्थका इन्द्रियोंसे सम्बन्ध नहीं उसे इन्द्रियां प्रकाशित नहीं कर सकती क्योंकि अप्राप्त वस्तुको दीप शिखा भी प्रकाशित नहीं कर सकती और यदि कर सके तो फिर जिस वस्तुके देखनेमें रोक है उस सबको भी प्रकाशित करना पड़े परन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता। इस सूत्रका भावार्थ यह है कि इन्द्रियां उसी वस्तुको प्रकाशित करती हैं जिनका उनसे सम्बन्ध हो अन्यको प्रकाशित नहीं कर सकती यदि यह शक्ति इन्द्रियोंमें होती कि जिसका उनसे सम्बन्ध नहीं उन्हें भी वह प्रकाशित कर सकें तो देशान्तरके पदार्थोंका भी प्रत्यक्ष होना चाहिये

और जब एक जगहकी बैठे देशान्तरके पदार्थ जान लिये तो इन्द्रियोंमें सर्वज्ञता आकर, ईश्वरमें और इन्द्रियोंमें अभेद ठहरा ; अतएव यही मानना चाहियेकि इन्द्रिया प्राप्त वस्तु होको प्रकाशित करती हैं ॥ अब यह सन्देह होता है कि अपसर्पण (फैलना) तेजका धर्म है और तेज वस्तुको प्रकाशित भी कर देता है इसी भांति चक्षु (नेत्र) को भी तेज स्वरूप क्यों न माना जाय क्योंकि वह भी वस्तुको प्रकाशित करता है इसका समाधान यह है कि ॥१०४॥

न तेजोऽपसर्पणात् तैजसं चक्षुर्वृत्तितस्तत्-
सिद्धेः ॥१०५॥

अपसर्पण (फैलने) को शक्ति तेजमें है इससे चक्षुको तेज स्वरूप नहीं कह सकते क्योंकि जो बात चक्षुको तेज स्वरूप-मान कर सिद्ध की जावेगी वह इस प्रकार भी सिद्ध हो सकती है कि चक्षुकी जो वृत्ति है जिनसेकि पदार्थका प्रत्यक्ष होता है उसीसे पदार्थका प्रत्यक्ष माना जाय ॥१०५॥

प्राप्तार्थप्रकाश लिङ्गाद्वृत्तिसिद्धिः ॥१०६॥

जिस पदार्थका चक्षुसे सम्बन्ध होता है उसे चक्षु प्रकाशित कर देता है इसीसे सिद्ध है कि चक्षुकी वृत्ति तैजस है किन्तु चक्षु तेज स्वरूप नहीं है ॥ अब यह सन्देह होता है कि जब चक्षुका पदार्थसे सम्बन्ध होता है तब चक्षुकी वृत्ति शरीरको बिना छोड़े कैसे उस पदार्थ पर जा कर पड़ती है इसका उत्तर यह है कि ॥ १०६ ॥

भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः सम्बन्धार्थं सर्पतीति ॥१०७॥

चक्षु आदि की वृत्ति पदार्थके सम्बन्धके लिये जाती है इससे चक्षुका भाग (टुकडा) वा रूप आदि गुण वृत्ति नहीं है किन्तु भाग और गुण इन दोनोंसे पृथक् एक तीसरे पदार्थका नाम वृत्ति है क्योंकि यदि चक्षु आदिके भागका नाम वृत्ति हो तो एक २ पदार्थका एक २ वार चक्षुसे सम्बन्ध होने पर शनैः २ चक्षुके टुकटे हो कर उसका नष्ट हो जाना सम्भवथा और यदि गुणका नाम वृत्ति होता तो गुण जड़ होते हैं अतएव वृत्तिका पदार्थ के साथ सम्बन्ध होते ही पदार्थमें चलाजाना नहीं बन सकता था, अतएव भाग और गुण दोनोंसे वृत्ति एक भिन्न पदार्थ है। अब रहा यह सन्देह कि इस प्रकारके लक्षण करने से वृत्ति एक द्रव्य सिद्ध हुआ और जब द्रव्य सिद्ध हुआ तो इच्छा आदिक जो बुद्धि के * गुण हैं उनका नाम वृत्ति क्यों है? क्योंकि जो गुण हैं उनका नाम वृत्ति नहीं हो सकता इसका उत्तर यह है कि ॥ १०७ ॥

न द्रव्य-नियमस्तद्योगात् ॥१०८॥

वृत्ति द्रव्यही है यह नियम नहीं क्योंकि लोकमें अनेक वाक्योंमें एसे स्थल परभी वृत्ति शब्दका व्यवहार देखा जाता

'* हमारी बुद्धिमें यह बात आती है' इस प्रकारके लौकिक व्यवहारसे सिद्ध होता है कि इच्छा होना बुद्धिकी वृत्ति है।

है जहां पर द्रव्यका अर्थ हो ही नहीं सकता। जैसे 'वैश्य-वृत्ति' 'शूद्र-वृत्ति' इत्यादि अतएव हमने जिस रीति पर वृत्ति को कहा है वैसेही स्थल पर वृत्ति द्रव्य हैं अन्यत्र यथायोग्य अर्थ लगाना चाहिये॥ यह बात पूर्वप्रतिपादन कर चुके हैं कि शरीर पांच-भौतिक केवल नाम मात्र है किन्तु वास्तव में पार्थिव है अब इस बात पर विचार करते हैं कि जिन इन्द्रियोंके आश्रयमें शरीर है वह इन्द्रिय जैसे हम लोगोंकी अहङ्कारसे उत्पन्न हैं वैसे ही अन्यान्य देशके लोगोंकी भी इन्द्रिय अहङ्कारसे ही उत्पन्न होती हैं पञ्चभूतोंसे नहीं इसीको अगले सूत्रसे स्पष्ट करते हैं कि ॥ १०८ ॥

न देशभेदेऽप्यन्योपादानतास्मदादिवन्नियमः ॥१०९॥

देशका भेद हो जाने परभी वस्तुका दूसरा उपादान नहीं हो सकता क्योंकि जैसे हमलोग दूसरे दूसरे देशोंमें चले जाते हैं और वहां रहते हैं परन्तु इन्द्रियां नहीं वदलती यदि देश भेद ही इन्द्रियोंके वदलने में वा अन्य उपादान कारण करनेमें हेतु होता तो हम लोगोंकी भी इन्द्रियां वहां जाकर अवश्य वदल जातीं परन्तु जब ऐसा नहीं दीखता तो सिद्ध है कि इन्द्रियां भी पांच भौतिक नहीं किन्तु अहङ्कारिक हैं। अब रहा यह संदेह कि जब इन्द्रियां अहङ्कारिक हैं तो वह भौतिक क्यों सुनी जाती हैं इसका उत्तर यह है कि ॥ १०९ ॥

निमित्तव्यपदेशात् तद्व्यपदेशः ॥ ११० ॥

इन्द्रियोंका निमित्त जो अहङ्कार है उसीके नामसे पञ्चभूतों

में भी इन्द्रियोंका कारणत्व स्थापन किया जाता है जैसे अग्नि यद्यपि काष्ठादि रूप नहीं है परन्तु तो भी उसे वैसेही पुकारा जाता है कि "लकड़ी की अग्नि" इसी तरह इन्द्रियां भौतिक नहीं भी हैं परन्तु उन्हें भौतिक कहाजाता है। अब स्थूलशरीर के भेदोंको कहते हैं ॥ ११० ॥

ऊष्मजाण्डजजरायुजोद्भिज्जसाङ्कल्पिकसांसिद्धिकं चेति न नियमः ॥ १११ ॥

ऊष्मज(जो पसीनेसे उत्पन्न होते हैं जैसे लीक आदि)अण्डज (जो अण्डेसे उत्पन्न होते हैं जैसे वतक आदि) जरायुज (जो झिल्लीसे उत्पन्न होते हैं जैसे मनुष्य आदि) उद्भिज्ज (जो पृथ्वी से उत्पन्न होते हैं जैसे वृक्ष आदि) सांकल्पिक (जिन्हें वाजीगर लोग केवल दिखाने के लिये बनालेते हैं) सांसिद्धिक (जो योगकी क्रियाओंसे बनजाते हैं) यही छः प्रकारके स्थूलशरीर आचार्य्यने निश्चय किये हैं परन्तु इन छः के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकारका स्थूल शरीर नहीं है यह नियम नहीं है क्योंकि शायद किसी देशान्तरमें इस प्रकारके शरीरके अतिरिक्त भिन्न रीतिका कोई शरीर हो। आचार्य्यने जहां तक निश्चय किया वहां तक यही छः प्रकारके शरीर दिखाई पड़े हैं ॥ १११ ॥

सर्वेषु पृथिव्युपादानमसाधारण्यात् तद्व्यपदेशः पूर्ववत् ॥ ११२ ॥

इन सब शरीरोंका साधारणतः पृथिवी ही उपादान कारण है अतएव इन्हें पार्थिव कहना चाहिये और जो पांच भूतोंका

व्यपदेश हैं अर्थात् नाम सुनाजाता है वह पहिले कहे हुए की भांति समझना चाहिये अर्थात् मुख्य तो पृथ्वीही उपादान कारण है अन्य सब गौण हैं। अब यह सन्देह होता है कि इस शरीरमें प्राणही प्रधान है अतएव उसीको देहका कर्त्ता क्यों न माना जाय इसका उत्तर यह है कि ॥ ११२ ॥

न देहारम्भकस्य प्राणत्वमिन्द्रियशक्तितस्तत्सिद्धेः॥११३॥

प्राण देहका कर्त्ता नहीं हो सकता क्योंकि प्राण इन्द्रियों की शक्तिसे अपने कार्य्य करनेमें प्रवृत्त होता है। और इन्द्रियोंके साथ उसका अन्वय व्यतिरेक दृष्टान्तभी हो सकता है कि 'जब तक इन्द्रियां हैं तब तक प्राण हैं' 'जब इन्द्रिया नहीं तब प्राणभी नहीं' अतएव प्राणको देहका कारण नहीं कह सकते इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि जब देहके बननेमें प्राण कारण नहीं है तो बिना प्राणके भी देहकी उत्पत्ति होनी चाहिये इसका उत्तर यह है कि ॥ ११३ ॥

भोक्तुरधिष्ठानाद्भोगायतननिर्माणमन्यथा पूति-भाव-प्रसङ्गात् ॥११४॥

भोक्ता जो पुरुष उसीके व्यापारसे शरीरका बनना हो सकता है यदि वह प्राणोंको अपने अपने स्थानमें नियोजित न करे तो प्राणवायु कदापि ठीक ठीक रसोंको परिपक्व नहीं कर सकता और ठीक ठीक रस परिपक्व न होने पर अनेक प्रकारके रोग होकर शरीरसे पूतिगन्धि (बदबू) आनेलगे अतएव यद्यपि प्राण कारण है परन्तु पुरुषहीको मुख्य कारण मानना चाहिये।

अब रहा यह सन्देह कि जो अधिष्ठानत्व (बनानेवालापन) पुरुषमें माना जाती है वह यदि प्राणहीमें मान लिया जावे तो क्या चति है ? इसका उत्तर यह है कि ॥ ११४ ॥

भृत्यद्वारा स्वाम्यधिष्ठितिर्नैकान्तात् ॥ ११५ ॥

हमभी पुरुषको इस प्रकार अधिष्ठाता मानते हैं जैसे राजा अपने नौकरोंके द्वारा महल बनवाता है और वह महल राजा के बनाये हुए गिनेजाते हैं एवं उनका मालिकभी वही है इसी भांति पुरुषभी प्राण और इन्द्रियोंके द्वारा शरीरको चलाता है किन्तु स्वयं अकेलाही नहीं चलाता और बिना उसके यह शरीर चल नहीं सकता इससे वही अधिष्ठाता समझा जाता है। अब इससे आगे पुरुषका मुक्तिदशामें स्वरूप आदि कहेंगे ॥११५॥

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता ॥ ११६ ॥

समाधि सुषुप्ति और मोक्षमें पुरुषको ब्रह्मरूपता हो जाती है अर्थात् ब्रह्म जैसा आनन्दस्वरूप है वैसाही जीवभी हो जाता है। इस सूत्रका अर्थ अन्यान्य टीकाकारोंने यह किया है कि उक्त तीनों अवस्थाओंमें जीव ब्रह्म हो जाता है परन्तु वह अर्थ करना ठीक नहीं है क्योंकि रूप शब्दका सादृश्य अर्थ है "जैसे अमुक मनुष्य देव रूप है" इसके कहनेसे यह अभिप्राय निकलता है कि वह देव नहीं है किन्तु उसमें कितनेही गुण देवता कैसे हैं इसीसे उसे देव रूप कहा गया यदि उसे सार्वथा देव कहनाही अभीष्ट होता तो 'अमुक मनुष्य देव है' इतनाही कहा जाता इसी भांति उक्त सूत्रमें भी ब्रह्म रूप कहनेसे यही अभिप्राय है कि जीवमें ब्रह्मकेसे कतिपय

गुण इन तीनों अवस्थाओंमें हो जाते हैं किन्तु जीव ब्रह्म नहीं हो जाता, यदि आचार्य्य को यही अभीष्ट होता कि मुक्त जीव ब्रह्म हो जाते हैं तो "ब्रह्म रूपता" ऐसा न कह कर "ब्रह्मत्वम्" ऐसा कहते। इस ज्ञापक से जीव और ब्रह्मको एक माननेवालों का मत अयुक्त सिद्ध होता है। अब रहा यह सन्देह कि जब समाधि और सुषुप्तिमें भी आनन्द प्राप्त हो जाता है तब मुक्तिके लिये प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता है? और मुक्तिमें विशेषता ही क्या रही? इसका समाधान यह है कि ॥ ११६ ॥

द्वयोः सबीजमन्यत्र तद्धतिः ॥ ११७ ॥

समाधि और सुषुप्ति इन दोनोंमें जो आनन्द प्राप्त होता है वह थोड़ेही कालके लिये होता है और उसमें बन्धभी बना रहता है एवं मोक्षका आनन्द अधिक काल तक रहता है और उसमें बन्धका भी नाश हो जाता है यही उक्त दो प्रकारके आनन्दोंमें और मुक्तिमें भेद है॥ अब यहां पर यह सन्देह होता है कि समाधि और सुषुप्ति तो प्रत्यक्ष देखी जाती है किन्तु मोक्ष प्रत्यक्ष नहीं है अतएव उसमें आनन्दभी न कहना चाहिये इसका उत्तर यह है कि ॥ ११७ ॥

द्वयोरिव त्रयस्यापि दृष्टत्वान्न तु द्वौ ॥ ११८ ॥

जैसे समाधि और सुषुप्ति दोनों प्रत्यक्ष देखे जाते हैं वैसेही मोक्षभी प्रत्यक्षही है वह प्रत्यक्ष इस प्रकार होता है कि जब तक मनुष्य किसी कर्मको करके उसका फल नहीं भोग लेता है तबतक उसकी उस कर्मका साधन करनेके लिये प्रवृत्ति नहीं

होती जैसे पहले भोजन कर चुके हैं तो दूसरे दिवसभी भोजन करनेके लिये यत्न करने और भोजन करनेके लिये प्रवृत्ति होती है इसी भांति जब जीव पहिले कभी मोक्ष सुखका अनुभव कर चुका है अतएव फिरभी मोक्षके लिये यत्न करनेमें प्रवृत्ति होती है यदि यह कहा जावे कि मनुष्यने इस जन्ममें राज्य सुख का भोग कभी नहीं किया तो भी उसकी प्राप्तिकी अभिलाषा रहती है तो इसका उत्तर यह हो सकता है कि राज्यमें जो कुछ सुख होता है उसे आंखोंसे देखते हैं इसी से यह सिद्ध हुआ कि यातो मोक्ष सुख कभी स्वयं अनुभव किया है अथवा किसी को मोक्षसे आनन्दित देखा है इसी कारण उसकी प्रवृत्ति मोक्षमें होती है यही प्रत्यक्ष प्रमाण है और अनुमानसे इस भांति मोक्ष जाना जासकता है कि सुषुप्तिमें जो आनन्द मिलता है उसके नाश करनेवाले चित्तके रागादिक दोष हैं और वह रागादिक सिवाय ज्ञानके और किसीसे नष्ट नहीं हो सकते जब ज्ञान हो जावेगा तब सुषुप्ति आदि अवस्थाओंकी अपेक्षा जिसमें अधिक काल तक आनन्द प्राप्ति हो एसी ही अवस्था मोक्ष कहाती है। अब इसमें यह सन्देह होता है कि समाधिमें तो वैराग्यके कारण कर्मोंकी वासना न्यून हो जाती है अतएव समाधिमें तो आनन्द प्राप्ति होना सम्भव है किन्तु सुषुप्तिमें तो वासनाऐं प्रवल रहने के कारण पदार्थोंका भी बोध * अवश्यही होगा और जब पदार्थ का ज्ञान रहा तो आनन्द प्राप्ति न रही इसका समाधान यों है कि ॥ ११८ ॥

---

* पदार्थोंके बोधसे यहां यह तात्पर्य्य है कि वासनाऐं अपने विषय की ओर खींच कर उनमें जीवकी प्रवृत्ति करदेंगी

वासनयानर्थख्यापनं दोषयोगेऽपि न निमित्तस्य प्रधान-बाधकत्वम् ॥ ११९ ॥

जैसे वैराग्यमें बासना न्यून होकर अपना प्रभाव नहीं दिखा सकती इसी भांति निद्रादोषके योगसे भी बासना अपने बिषय की ओर नहीं खींच सकती क्योंकि बासनाओंका निमित्त जो संस्कार वह निद्राके दोषसे बाधित हो चुका है अतएव सुषुप्तिमें भी समाधिकी भांति आनन्द रहता है। पहले यह कह चुके हैं कि संस्कारके लेशसे जीवन्मुक्तका शरीर बना रहता है उसमें यह सन्देह होता है कि जिस संस्कारसे शरीर बना रहता है वह एकही संस्कार उस जीवकी प्राणधारणरूपी क्रियाको निवृत्त कर देता है वा जुदी २ क्रियाओंके लिये जुदे २ संस्कार होते हैं इस पर कहते हैं कि ॥११९॥

एक संस्कारः क्रियानिर्वर्तको न तु प्रतिक्रियं संस्कार-भेदा बहु-कल्पनाप्रसक्तेः ॥ १२० ॥

एक ही संस्कार क्रियाको निवृत्त कर देता है अर्थात् जिस संस्कारसे शरीरिका कार्य्य चल रहा है वही संस्कार निवृत्त होकर शारीरक क्रियाओंको भी निवृत्ति कर देता है जुदी जुदी क्रिया-ओंके लिये जुदे जुदे संस्कार नहीं मानने चाहिये क्योंकि इस प्रकार बहुतसे संस्कारोंकी व्यर्थमें कल्पना करनी पड़ेगी। इस सूत्रसे भी जो कुलाल चक्रका दृष्टान्त देआये हैं वह पोषित होता है। उद्भिज्जको भी शरीरोंमें परिगणित करचुके हैं उसमें कोई कोई यह संदेह करते हैं कि जब उनमें वाह्य बुद्धि नहीं

है अर्थात् वह बाहरके पदार्थोंको नहीं समझ सकते तब उन का शरीर क्यों माना जाता है इसका उत्तर यह है कि ॥१२०॥

न बाह्यबुद्धिनियमो वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पतितृण-वीरुधादीनामपि भोक्तृभोगायतनत्वं पूर्ववत् ॥ १२१ ॥

जिसमें बाह्यबुद्धि हो वही शरीर कहाजावे यह नियम नहीं है क्योंकि मृत शरीरमें भी बाह्यबुद्धि नहीं रहती तब क्या उसे शरीर न कहेंगे ? किन्तु वृक्ष, गुल्म, औषधि, वनस्पति, तृण, वीरुध, आदिकोंके शरीर भी भोगके निमित्त हैं क्योंकि यदि भोगायतन न होते तो सूखना और हरा होना आदि उनमें क्यों दिखाई पड़ता ? जिन किन्होंने "न वाह्य बुद्धि नियमः" इसको पृथक् सूत्र माना है उन्हें भी दोनोंको मिलाकर ही व्याख्या करनी चाहिये बहुतसे पुस्तकोंमें दोनोंही प्रकारके पाठ देखनेमें आते हैं ॥ १२१ ॥

स्मृतेश्च ॥ १२२ ॥

"शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः" (शरीरसे हुए कर्मदोषोंसे मनुष्य स्थावर हो जाता है) ऐसा स्मृतियोंमें देखा जाता है इसमें सिद्ध है कि स्थावर भी शरीर ही है ॥ अब इस पर यह सन्देह हो सकता है कि जब वृक्षादिकों को शरीर-धारी माना गया तो उनमें भी धर्माधर्म मानने चाहिये इसका उत्तर यह है कि ॥१२२॥

न देहमात्रतः कर्माधिकारित्वं वैशिष्ट्यश्रुतेः ॥ १२३ ॥

देहधारी मात्रको शुभाशुभ कर्मोंका अधिकार नहीं दिया

गया है किन्तु स्मृतियोंमें ब्राह्मण क्षत्रिय आदि वर्ण विशिष्ट मनुष्यों ही को धर्म्माधर्मका अधिकार दिया गया है॥ देहके भेद होसे कर्म्म भेद है यह बात अगले सूत्रसे स्पष्ट करते हैं॥१२३॥

त्रिधा त्रयाणां व्यवस्था कर्मदेहोपभोगदेहो-
भयदेहाः ॥ १२४ ॥

उत्तम, अधम, और मध्यम, इन तीन प्रकारके देहोंकी तीन प्रकारसे व्यवस्था हैं और उन्हींके लिये धर्म आदिकाके अधिकार हैं एक कर्म्म देह (जो केवल कर्मोंहीके करने २ पूरा हो जाय जैसे कि अनेक महर्षियोंका तप आदि करते ही में जन्मपूर्ण हो जाता है) दूसरा उपभोग देह (जैसे अनेक राजा-ओंका जन्म विषयोंका उपभोग करते २ ही पूरा हो जाता है) तीसरा उभय देह (जिसने कर्म्म भी किये हो और भोग भी किये हों जैसे राजर्षि भर्तृहरिका हुआ था) बस इनहीं देहोंके लिये धर्म्माधर्म्मका विधान है। यो तो पशुपक्षी आदि भी देहधारी हैं परन्तु उनको धर्म्मका विधान नहीं है॥१२४॥

न किञ्चिदप्यनुशयिनः ॥ १२५ ॥

और जो मुक्त हो चुका है उसके लिये कुछ भी विधान नहीं और न उसे किसी विशेष नामवाला कह सकते हैं॥ अब यह सन्देह होता है कि जीवको इस शास्त्रमें नित्य माना हैं उस नित्य जीवके आश्रयमें रहनेवाली बुद्धि भी नित्य क्यों न मान लीजावे इसका उत्तर यह है कि॥ १२५॥

न बुद्ध्यादि-नित्यत्वमाश्रयविशेषेऽपि वह्निवत् ॥ १२६ ॥

यद्यपि उनका आश्रय जीव नित्य है तो भी बुद्धि आदिक नित्य नहीं हो सकते जैसे चन्दनका काष्ठ यद्यपि शीत प्रकृति-वाला होता है तो भी अग्नि संयोग होने पर उस काष्ठकी शीतलता अग्निमें नहीं आसकती ॥ अथवा ॥१२६॥

आश्रयासिद्धेश्च ॥ १२७ ॥

जीव, बुद्धिका आश्रय हो ही नहीं सकता। किन्तु इस प्रकार इनका सम्बन्ध है जैसे स्फटिक और फूलका अतएव प्रतिबिम्ब कहना चाहिये आश्रय नहीं हो सकता। इस सब कथन पर यह आक्षेप हो सकता है कि आचार्य्य योगकी सिद्धियोंको सच्ची मानते हैं और उनके द्वारा मुक्ति भी बताते हैं परन्तु योगकी अनेक सिद्धि एसी भी है जो समझमें नहीं आती इस पर आचार्य कहते हैं कि ॥१२७॥

योगसिद्धयोऽप्युषधादिसिद्धिवन्नापलपनीयाः ॥ १२८ ॥

जैसे औषधोंकी सिद्धि होती है अर्थात् एक २ औषधसे अनेक रोगोंकी निवृत्ति होती है तथाच भांति २ की रसायनें उससे बन सकती हैं इसी भांति योगकी भी सिद्धियोंको जानना चाहिये क्यों कि उनसे भी अनेन प्रकारके प्रत्यक्ष लाभ दिखाई पड़ते हैं महर्षि कपिल पुरुषको चैतन्य मानते हैं अतएव जो भूतों को (पृथिवी आदिको) चैतन्य मानते हैं उनका मत दूषित कह कर अध्याय समाप्त करते हैं कि ॥१२८॥

न भूतचैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः सांहत्येऽपि च सांहत्ये-ऽपि च ॥ १२९ ॥

भूत कदापि मिल कर भी चैतन्य नहीं हो सकते क्योंकि यदि उनमें चेतनता होती तो भूतोंके पृथक्२ होने पर भी दिखाई पड़ती परन्तु जब पृथक्तामें उन्हें जड़ देखते हैं तो चेतन कैसे माने ? द्विरुक्ति अध्याय समाप्तिके निमित्त है ॥

इति पञ्चमाध्यायः ।

अथ-षष्ठोऽध्यायः।



पूर्वोक्त अध्यायोंमें महर्षि कपिलने अनेक प्रकारके शास्त्रार्थ और युक्तियोंसे अपने मतका स्थापन और दूसरे मतोंका खण्डन किया अब इस अन्तिम अध्यायमें अपना सिद्धान्त सीधी रीतिपर कहेंगे जिससे सब दर्शनका सार सहजही में समझा जाय इसी निमित्त जो पूर्व बातें कह चुके हैं उनका इस अध्यायमें पुनर्वार कहना पुनरुक्ति नहीं होगी। इस अध्यायके सूत्र प्रायः सीधे हैं अतएव विशेष टीका करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं देखी गई अतएव साधारणतः लिखा जावेगा।

अस्त्यात्मा नास्तित्वसाधनाभावात् ॥ १ ॥

आत्मा कोई पदार्थ है क्योंकि न होनेमें कोई प्रमाण नहीं है अर्थात् जो लोग आत्माका खण्डन करते हैं उनके पास कोई प्रमाण नहीं है ॥ १ ॥

देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात् ॥ २ ॥

वह आत्मा (पुरुष) देहसे भिन्न कोई पदार्थ है देहका नाम आत्मा नहीं है क्योंकि प्रकृतिमें जो गुण पाये जाते हैं उनसे आत्मामें कुछ विचित्रता है ॥ २ ॥

षष्ठीव्यपदेशादपि ॥ ३ ॥

"मेरा यह शरीर है" इस षष्ठी व्यपदेशसे भी आत्माका

देहसे भिन्न वस्तु होगा सिद्ध होता है क्योंकि यदि देहादिकही आत्मा होते तो "मेरा" यह कहना नहीं बनसकता ॥३॥

न शिलापुत्रवद्धर्मिग्राहकमानबाधात् ॥४॥

यदि अभेद समझ कर यह कहोकि 'पत्थरका पुत्र' अर्थात् जो पत्थर है वही पत्थरका पुत्र है इसी भाँति जो आत्मा है वही शरीर है यह षष्ठीका अर्थ करो तो भी ठीक नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे शिलामें पुत्र और पिताका भाव सिद्ध होसके ॥ ४ ॥

अत्यन्तदुःखनिवृत्त्या कृतकृत्यता ॥५॥

उस पुरुषके दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति हो जानेही से उसे कृतकृत्यता अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो जाता है ॥ ५ ॥

यथा दुःखात् क्लेशः पुरुषस्य न तथा सुखादभिलाषः ॥६॥

जिस प्रकार पुरुषको दुःखसे क्लेश होता है उस प्रकार सुख से उसको अभिलाषा नहीं अर्थात् सुखोंसे अभिलाषाओंकी पूर्णता नहीं होती क्योंकि सुख भी प्रायः दुःखोंसे मिले हुए हैं ॥ ६ ॥

न कुत्रापि कोऽपि सुखीति ॥७॥

संसारमें कोई भी पुरुष कहीं सुखी नहीं रह सकता किन्तु सुख दुःख दोनोंही होते रहते हैं ॥ ७ ॥

तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः ॥८॥

जो थोड़ा बहुत सुख मिलता भी है वह दुखोंसे मिला हुआ है अतएव सुख दुःखकी व्यवस्था करनेंवाले विद्वान् उसे भी दुःखही में गिनते हैं। जैसे विष और मीठेका मिला हुआ अन्नभी विषही की गणनामें आता है अतएव मुक्तिके सुखके लिये यत्न करना चाहिये ॥ ८ ॥

सुखलाभाभावादपुरुषार्थत्वमिति चेन्न द्वैविध्यात् ॥९॥

किसीको भी सुख नहीं मिलता इस कथनसे यह न समझ लेना चाहिये कि मुक्तिमें भी सुख नहीं मिलता अतएव मुक्ति कुछ वस्तुही न रही। क्योंकि लौकिक सुख अन्य प्रकारका है और पारमार्थिक सुख अन्य प्रकारका है अर्थात् लौकिक सुखमें दुःख मिला हुआ है और मोक्ष सुखमें दुःख नहीं मिला ॥ ९ ॥

निर्गुणत्वमात्मनोऽसङ्गत्वादिश्रुतेः ॥१०॥

मुक्तिमें आत्मा निर्गुण रहता है सांसारिक दशाही में आत्माको लौकिक गुण बांधा पहुंचाते हैं मुक्ति दशामें आत्मा को असङ्ग अर्थात् प्रकृतिके सङ्गसे रहित सुनाजाता है ॥१०॥

परधर्मत्वेऽपि तत्सिद्धिरविवेकात् ॥ ११ ॥

यद्यपि सांसारिक दशामें गुणोंका सर्वथा पुरुषमें ही बोध होता है परन्तु उस प्रकारके बोधकी उत्पत्ति अविवेकसे होती है क्योंकि जो अज्ञानी हैं वही सांसारिक कर्मों को पुरुष कृत-

मानते हैं किन्तु वास्तवमें वह प्रकृति और पुरुषके संयोगसे होते हैं अतएव संयोगज हैं ॥ ११ ॥

अनादिरविवेकोऽन्यथा दोषद्वयप्रसक्तेः ॥ १२ ॥

अविवेकको प्रवाह रूपसे अनादि मानना चाहिये क्योंकि यदि सादि कहें तो यह प्रश्न हो सकता है कि उसे किसने उत्पन्न किया यदि प्रकृति और पुरुषसे उत्पन्न हुआ तब उन्हींसे उत्पन्न हुआ उन्हींका बन्ध करे यह दोष होगा । दूसरा प्रश्न यह हो सकता है कि यदि कर्मोंसे इसकी उत्पत्ति मानी जाय तो उसमें यह प्रश्न करने को अवकाश रहेगा कि कर्म किससे उत्पन्न हुए हैं ? अतएव इन दोनों दोषोंको दूरकरनेके निमित्त अविवेकको अनादि मानना चाहिये । इस सूत्रका तात्पर्य्य हमारी समझमें यह आता है कि आचार्य्यने अविवेक पदसे वासनाका आशय रखा है क्योंकि कर्मोंकी वासनाएं प्रवाहरूप से अनादि हैं और उन्हींसे कर्मोंकी उत्पत्ति भी होती है अथच उन वासनाओंके प्रबल रहने होसे बन्ध और न्यून रहने होसे मोक्ष कहना आचार्य्यको अभीष्ट है । यद्यपि अन्यान्य स्थानोंमें अविवेक शब्दसे और भी अर्थ कहें हों परन्तु इस स्थलपर सिवाय वासनाके और कोई अर्थ अविवेकका नहीं हो सकता; यदि ऐसा अर्थ न माना जावे तो अविवेकके अनादि होने पर उस (अविवेक) का किया हुआ बन्धनभी अनादि मानना पड़ेगा और आचार्य्य बन्धनको पहलेही सादि कह आये हैं इससे पूर्वापर कथनमें विरोध आवेगा अतएव अविवेक कहनेसे वासनाका अभिप्राय जानना चाहिये ॥ १२ ॥

न नित्यः स्यादात्मवदन्यथानुच्छित्तिः ॥१३॥

अविवेकको नित्य नहीं कहसकते क्योंकि यदि नित्यमानें तो जैसे आत्माका नाश नहीं होता वैसे अविवेकका भी नाश नहीं होगा और अविवेकके नाश, न होनेसे मुक्ति भी नहीं हो सकेगी अतएव अविवेकको प्रवाह रूपसे अनादि अनित्य मानना चाहिये ॥ १३ ॥

प्रतिनियतकारणनाश्यत्वमस्य ध्वान्तवत् ॥१४॥

क्योंकि यह अविवेक भी प्रति नियत कारण * से नष्ट हो जाता है अतएव अनित्य है जैसे अन्धेरा प्रकाशरूपी प्रतिनियत कारणसे नष्ट हो जाता है अतएव वह नित्य नहीं कहा जाता ॥ १४ ॥

अत्रापि प्रतिनियमोऽन्वयव्यतिरेकात् ॥१५॥

इस अविवेक के नाश करनेमें भी प्रतिनियत (जिससे अवश्य नष्ट हो जाय) अन्वय व्यतिरेकसे निश्चय करलेना चाहिये वह अन्वय यही है कि 'विवेकके होनेसे इसका नाश' और 'विवेक के न होनेसे अविवेकका होना' प्रतीत होता है यही अन्वय व्यतिरेक कहने का तात्पर्य्य है ॥ १५ ॥

प्रकारान्तरासम्भवादविवेक एव बन्धः ॥१६॥

जब कोई और प्रकार सिवाय अविवेकके बन्धमें हेतु नहीं

---

* प्रतिनियत कारण उसे कहते हैं कि जिससे उस कार्य्यकी उत्पत्ति या नाश अवश्य ही हो जाय जैसा अन्धेरे के दृष्टान्तसे समझ लेना चाहिये।

दिखाई पड़ता तब यही मानना ठीक है कि "अविवेक ही बन्ध है, और विवेक ही मोक्ष है ॥ अब मुक्तिके सम्बन्धमें कोई वादी इन अगले तीन सूत्रोंसे पूर्वपक्ष करता है कि ॥ १६ ॥

न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यनावृत्तिश्रुतेः ॥१७॥

जो मुक्त हो चुका वह फिर कभी बँध नहीं सकता क्योंकि "न स पुनरावर्त्तते" (वह फिर नहीं आता) इस श्रुतिसे मुक्त होनेपर फिर आनेका निषेध सुना जाता है ॥१७॥

अपुरुषार्थत्वमन्यथा ॥ १८ ॥

और जो मुक्तका बन्धयोग मानों तो अपुरुषार्थत्व ठहरता है ॥ १८ ॥

अविशेषापत्तिरुभयोः ॥ १९ ॥

एवं बद्धमें और मुक्तमें समानता ठहरती है क्योंकि जो मुक्त नहीं है वह अब बँधा है, एवं जो मुक्त होगा वह फिर बन्ध जायगा ॥ इन तीनों सूत्रोंका उत्तर यह है कि ॥ १९ ॥

मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परः ॥२०॥

जिस प्रकारकी मुक्तिका पूर्वपक्ष वादीने किया उस प्रकार की मुक्ति आचार्य्यको सम्मत नहीं है किन्तु अन्तरायोंके ध्वंस हो जानेके सिवाय और किसी प्रकारकी मुक्ति आचार्य्य नहीं मानते * ॥ २० ॥

---

* अन्तरायोंका लक्षण महर्षि पतञ्जलिने यह किया है कि "व्याधिस्त्यानं संशयप्रमादालस्याविरति भ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः" व्याधि (ज्वरादिक)

तत्राप्यविरोधः ॥२१॥

जो श्रुति आदिकोंका दोष बताया वहभी युक्त नहीं हो सकता क्योंकि वेदोंमें अनेक स्थलों पर मुक्तको भी पुनरावृत्ति लिखी है और वह श्रुतिभी मन्त्रभागकी न होनेसे प्रमाणके योग्य नहीं हो सकती अतएव मुक्तसे फिर बंधता नहीं यह कथन ठीक नहीं हो सकता। दूसरा जो दोष यह बतायाकि पुनर्बन्ध होनेसे बद्ध मुक्त दोनों समान होंगे सोभी ठीक नहीं क्योंकि जो मनुष्य रोगी है उसको समता नीरोगके साथ कदापि नहीं करसकते यद्यपि जो निरोग है वह भी समयान्तरमें रोगी हो सकता है परन्तु यह विचार करके "यह भी भविष्यत् में रोगी होगा अतएव रोगीही के समान है" उसके साथ भी रोगीकासा बर्ताव नहीं कर सकते। इस लिये न तो मुक्तकी पुनरावृत्ति मानने में श्रुतिसे विरोध आता है और न युक्तिसे विरोध होता है ॥२१॥

स्त्यान (निकम्मापन) संशय (दुतर्फा समझ) प्रमाद (समाधिमें अनियत रहना) आलस्य (शरीर वा बुद्धिका मोटा होना) अविरति (विषय तृष्णा) भ्रान्तिदर्शन (मिथ्या ज्ञान) अलब्ध भूमिकत्व (समाधिका प्राप्त न होना) अनवस्थितत्व (जो समाधि प्राप्त को है उसका मनमें न ठहरना) इन्हींके नाश हो जानेको मुक्ति कहते हैं इसके अर्थमें विज्ञान-भिक्षुने अन्तरायका अर्थ "उपाधिसे उत्पन्न हुआ" ऐसा किया है वह युक्त नहीं हो सकता क्योंकि कपोलकल्पित है एवं उसने जो किया है वह इस अभिप्रायसे किया है कि ब्रह्मही जीवरूप हो गया है उसके औपाधिक कार्य्य-नष्ट हो जानाही मुक्ति है परन्तु वह आर्ष प्रमाण और प्रकरण दोनोंसे विरुद्ध है अतएव मान्य नहीं।

अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः ॥२२॥

उत्तम, मध्यम और अधम, यह तीन प्रकारके अधिकारी हैं अतएव श्रवण मनन आदि योगांगोंसे सबहीकी मुक्ति हो यह नियम नहीं है ॥ २२ ॥

दार्ढ्यार्थमुत्तरेषाम् ॥२३॥

जो मूर्ख हैं उनकी दृढ़ताके लिये उन्हें भी उचित है कि वह श्रवण, मनन, आदि योगाङ्गों का अनुष्ठान करें तो कालान्तरमें उनको भी मुक्ति हो सकती है ॥ २३ ॥

स्थिरसुखमासनमिति न नियमः ॥२४॥

स्थिर सुख जिसमें हो वही आसन है ऐसा पूर्व कहचुके हैं, अतएव पद्मासन, मयूरासन, इत्यादिक भी मोक्षके साधन हैं,वा योगांगोंमें परिगणित हैं यह नियम नहीं है ॥ २४ ॥

ध्यानं निर्विषयं मनः ॥२५॥

जिसमें मन निर्विषय हो जाय अर्थात् उसकी कल्पना करनेके लिये कोई वस्तु जब न हो वही ध्यान है यह ध्यानही समाधि का लक्षण है। समाधि और सुषुप्तिमें भेद बताते हैं कि ॥ २५ ॥

उभयथाप्यविशेषश्चेन्नैवमुपरागनिरोधाद्विशेषः ॥२६॥

समाधि और सुषुप्ति दोनों समान हैं ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि समाधिमें उपराग (विषय वासना) का निरोध (रोकना) होता है अतएव सुषुप्तिकी अपेक्षा समाधि विशेष है ॥ २६ ॥

नि:संगेप्युपरागोऽविवेकात् ॥२७॥

यद्यपि पुरुष नि:संग अर्थात् संग रहित है तोभी * अविवेक के कारण उसमें विषयोंकी बासनाएं माननी चाहिये ॥२७॥

जवास्फटिकयोरिव नोपराग: किन्त्वभिमान: ॥२८॥

जैसे जवाका फूल और स्फटिकमणिको समीपरखने पर उपराग होता है ठीक उसी प्रकारका उपराग पुरुषमें नहीं है किन्तु अविवेकके कारण पुरुषमें विषय बासनाओंका अभिमान कहना चाहिये जहां २ जवा पुष्प स्फटिकका दृष्टान्त दे चुके हैं वहां और इस कथनसे विरोध न समझना चाहिये क्योंकि वह केवल दृष्टान्त पक्ष था यह सिद्धान्त पक्ष है ॥२८॥

ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोध: ॥२९॥

†ध्यान, धारणा, अभ्यास वैराग्य आदिकोंसे विषय बासनाओंका निरोध हो सकता है ॥२९॥

लय-विक्षेपयोर्व्यावृत्त्येत्याचार्या: ॥३०॥

लय (सुषुप्ति) विक्षेप(स्वप्न और जाग्रत्) इन दोनों अवस्थाओंके निवृत्त हो जानेसे अर्थात् समाधि प्राप्तिहोसे विषय बासनाका निरोध हो जाता है यह आचार्योंका मत है ॥३०॥

---

* यहांभी अविवेक के कथनसे कर्मों की बासना होसे तात्पर्य्य समझना चाहिये।

† इन सबका वर्णन पूर्वही हो चुका है अतएव फिर लिखना अनावश्यक है। आदि शब्दसे समाधिका ग्रहण करना चाहिये।

न स्थाननियमश्चित्तप्रसादात् ॥ ३१ ॥

समाधि आदिके करनेके लिये स्थानका नियम नहीं है किन्तु जहां चित्तकी प्रसन्नता हो वहीं समाधि हो सकती है। बहुतेरे लोग कहते हैं कि गुहाहोमें समाधि होती है परन्तु वह सांख्यके मतसे विरुद्ध है ॥३१॥

प्रकृतेराद्योपादानतान्येषां कार्यत्व-श्रुतेः ॥३२॥

प्रकृति ही सबका उपादान कारण है और महदादिक प्रकृतिके कार्य्य हैं ॥ ३२ ॥

नित्यत्वेऽपिनात्मनो योगत्वाभावात् ॥३३॥

यद्यपि आत्मा नित्य है तथापि उसे उपादान कारण नहीं कह सकते क्योंकि जो बातें उपादान कारणमें होनी चाहिये वह आत्मामें नहीं है अर्थात् यदि आत्माही सबका उपादान कारण हो तो पृथिवी आदिक सब चैतन्य होने चाहिये परन्तु एसा नहीं देखनेमें आता ॥३३॥

श्रुतिविरोधान्न कुतर्कापसदस्यात्मलाभः ॥३४॥

जो आत्माके सम्बन्धमें श्रुतियोंका विरोध करके कुतर्क करता है उसे कदापि आत्म-ज्ञान नहीं होता क्योंकि जो जीव अल्पज्ञ है उसे वास्तवमें जो मनुष्य सर्वज्ञ मानेगा वह कदापि नहीं समझ सकेगा कि जीव क्या वस्तु है और उसका क्या स्वरूप है ॥३४॥

पारम्पर्य्येऽपि प्रधानानुवृत्तिरणुवत् ॥३५॥

परम्परा सम्बन्धसे भी सबका कारण प्रकृतिही को मानना चाहिये जैसे घट आदिकोंके कारण अणु और अणुओंका

कारण परमाणु हैं इसी भांति परम्परासे भी सबका कारण प्रधान् ही है ॥३५॥

सर्वत्र कार्यदर्शनाद्विभुत्वम् ॥ ३६ ॥

प्रकृतिके कार्य्य सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं अतएव प्रकृति नित्य है ॥ ३६ ॥

गतियोगेऽप्याद्यकारणताहानिरणुवत् ॥३७॥

*यद्यपि शरीरमें गमनादि क्रियाओंका योग है तो भी उसका आद्य-कारण (पहला सबब) अवश्य मानना पड़ेगा जैसे अणु यद्यपि सूक्ष्म हैं तथापि उनका कारण अवश्य माना जाता है ॥३७॥

प्रसिद्धाधिक्यं प्रधानस्य न नियमः ॥३८॥

प्रकृतिही की प्रसिद्धता देखी जाती है अतएव वैशेषिकादिकोंके माने हुए द्रव्योंका ठीक नियम नहीं है क्योंकि कोई नव द्रव्य बताता है कोई षोड़ष द्रव्य कहता है इससे वह सब अनियमित हैं और प्रकृतिहीके सब कार्य्य दिखाई पड़ते हैं इस लिये उसीको कारण मानना चाहिये ॥ ३८ ॥

---

* अहानिरितपिदच्छेदः। अणुवदित्यपूर्णोपमित्युच्यते। (अहानि ऐसा पदच्छेद करना चाहिये अणुवत् जो उपमा दी वह अपूर्ण उपमा है क्योंकि गति अणुओंमें नहीं होती)।

सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात् ॥३९॥

सत्व रज, तम, यह प्रकृतिके धर्म नहीं है किन्तु यह प्रकृति के रूप हैं अर्थात् सत्वादि रूप ही प्रकृति है ॥३९॥

अनुपभोगेऽपि पुमर्थं सृष्टिः प्रधानस्योष्ट्रकुंकुम-वहनवत् ॥४०॥

*यद्यपि प्रकृति अपनी सृष्टिका आपभोग नहीं करती तथापि उसकी सृष्टि पुरुषके लिये है जैसे ऊंठ अपने मालिक के लिये कुङ्कुम लेजाता है ऐसे ही प्रकृति भी सृष्टि करती है ॥ ४० ॥

कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम् ॥ ४१ ॥

प्रत्येक पुरुषके कर्मोंकी वासनाएं भांति२ की होती हैं इसीसे प्रकृतिकी भी सृष्टि भांति भांति की होती है एकासी नहीं होती ॥ ४१ ॥

*साम्य-वैषम्याभ्यां कार्य्यद्वयम् ॥ ४२ ॥

समता और विषमताके कारण उत्पत्ति और प्रलय होते हैं। जब प्रकृतिकी समता होती है तब उत्पत्ति होती है और जब विषमता होती है तब प्रलय होता है, यही बात लोकमें भी देखी जाती है कि जिन दो औषधोंके बराबर मिलाकर खानेसे तो फायदा होता है और कम बढ़ मिला कर खानेसे हानि होती है ॥४२॥

---

* इस सूत्रकी व्याख्या पहले दूसरे सूत्रोंमें हो चुकी है इससे फिर लिखना व्यर्थ है।

विमुक्तस्वबोधान्न सृष्टिः प्रधानस्य लोकवत् ॥४३॥

जब प्रकृति यह जान लेती है कि यह पुरुष मुक्त हो गया तब उसके लिये सृष्टि नहीं करती जैसे लोकमें भी देखा जाता है कि जब कोई मनुष्य किसीको छुड़ानेका यत्न करता है और जब वह छुड़ा देता है तब उस यत्नसे निवृत्त हो जाता है क्योंकि जिसके लिये उद्योग किया था वह कार्य पूरा हो गया ॥४४॥

नान्योपसर्पणेऽपि मुक्तोपभोगो निमित्ताभावात् ॥४४॥

यद्यपि प्रकृति अविवेकियोंको बद्ध करती है परन्तु जो मुक्त हैं उनको बद्ध नहीं कर सकती क्योंकि जिस निमित्तसे वह अविवेकियोंको बद्ध करती थी वह अविवेक मुक्त जीवोंमें नहीं रहता ॥ ४४ ॥

पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः ॥४५॥

जीव अनेक हैं क्योंकि प्रति शरीरमें उनकी पृथक्२ व्यवस्था देखी जाती है ॥४५॥

उपाधिश्चेत् तत्सिद्धौ पुनर्द्वैतम् ॥४६॥

यदि यह कहो कि जैसे सूर्य्य एक है और उसका प्रतिबिम्ब अनेक स्थलोंमें पड़नेसे अनेकता दिखाई पड़ती है इसी भांति ईश्वर एक ही है किन्तु शरीररूपी उपाधि होनेसे अनेकता है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि जो एक ब्रह्मके सिवाय और किसीको मानते ही नहीं वह यदि ब्रह्म और उपाधि दो मानेंगे तो अद्वैत बाद न रह कर द्वैत बाद हो जावेगा ॥४६॥

सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात् ॥३९॥

सत्व रज, तम, यह प्रकृतिके धर्म नहीं है किन्तु यह प्रकृति के रूप हैं अर्थात् सत्वादि रूप ही प्रकृति है ॥३९॥

अनुपभोगेऽपि पुमर्थं सृष्टिः प्रधानस्योष्ट्रकुंकुम-वहनवत् ॥४०॥

*यद्यपि प्रकृति अपनी सृष्टिका आपभोग नहीं करती तथापि उसकी सृष्टि पुरुषके लिये है जैसे ऊंठ अपने मालिक के लिये कुङ्कुम लेजाता है ऐसे ही प्रकृति भी सृष्टि करती है ॥ ४० ॥

कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम् ॥ ४१ ॥

प्रत्येक पुरुषके कर्मोंकी वासनाएं भांति२ की होती हैं इसीसे प्रकृतिकी भी सृष्टि भांति भांति की होती है एकसी नहीं होती ॥ ४१ ॥

साम्य-वैषम्याभ्यां कार्य्यद्वयम् ॥ ४२ ॥

समता और विषमताके कारण उत्पत्ति और प्रलय होते हैं। जब प्रकृतिकी समता होती है तब उत्पत्ति होती है और जब विषमता होती है तब प्रलय होता है, यही बात लोकमें भी देखी जाती है कि जिन दो औषधोंके बराबर मिलाकर खानेसे तो फायदा होता है और कम बढ़ मिला कर खानेसे हानि होती है ॥४२॥

---

* इस सूत्रकी व्याख्या पहले दूसरे सूत्रोंमें हो चुकी है इससे फिर लिखना व्यर्थ है।

विमुक्तबोधान्न सृष्टिः प्रधानस्य लोकवत् ॥४३॥

जब प्रकृति यह जान लेती है कि यह पुरुष मुक्त हो गया तब उसके लिये सृष्टि नहीं करती जैसे लोकमें भी देखा जाता है कि जब कोई मनुष्य किसीको छुड़ानेका यत्न करता है और जब वह छुड़ा देता है तब उस यत्नसे निवृत्त हो जाता है क्योंकि जिसके लिये उद्योग किया था वह कार्य पूरा हो गया ॥४४॥

नान्योपसर्पणेऽपि मुक्तोपभोगो निमित्ताभावात् ॥४४॥

यद्यपि प्रकृति अविवेकियोंको बद्ध करती है परन्तु जो मुक्त हैं उनको बद्ध नहीं कर सकती क्योंकि जिस निमित्तसे वह अविवेकियोंको बद्ध करती थी वह अविवेक मुक्त जीवोंमें नहीं रहता ॥ ४४ ॥

पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः ॥४५॥

जीव अनेक हैं क्योंकि प्रति शरीरमें उनकी पृथक्२ व्यवस्था देखी जाती है ॥४५॥

उपाधिश्चेत् तत्सिद्धौ पुनर्द्वैतम् ॥४६॥

यदि यह कहो कि जैसे सूर्य्य एक है और उसका प्रतिबिम्ब अनेक स्थलोंमें पड़नेसे अनेकता दिखाई पड़ती है इसी भांति ईश्वर एक ही है किन्तु शरीररूपी उपाधि होनेसे अनेकता है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि जो एक ब्रह्मके सिवाय और किसीको मानते ही नहीं वह यदि ब्रह्म और उपाधि दो मानेंगे तो अद्वैत बाद न रह कर द्वैत बाद हो जावेगा ॥४६॥

द्वाभ्यामपि प्रमाणविरोधः ॥४७॥

दोनों मानने पर भी प्रमाणसे विरोध होता है; क्योंकि यदि उपाधिको सत्य मानें तो जिन प्रमाणोंसे अद्वैत की सिद्धि करते हैं उनसे विरोध होगा, और यदि उपाधि मिथ्या मानें तो जिन प्रमाणोंसे उपाधि सिद्ध करते हैं उससे विरोध होगा ॥ अपना मत कहते हैं कि ॥४७॥

द्वाभ्यामप्यविरोधान्न पूर्वमुत्तरं च साधकाभावात् ॥४८॥

अद्वैत और द्वैत इन दोनोंके साथ हमारा विरोध नहीं है क्योंकि अद्वैत तो ईश्वर इस लिये है कि उसके समान दूसरा, कोई नहीं है और द्वैत इस लिये है कि जीव और प्रकृतिके गुण ईश्वरकी अपेक्षा अन्य प्रकारके प्रतीत होते हैं अतएव पहला पक्ष ठीक है; वा पिछला ठीक है; यह न कहना चाहिये क्योंकि एक ही पक्षका पोषक कोई प्रमाण नहीं पाया जाता किन्तु जीव और ईश्वरकी भिन्नताके साधक प्रमाण पाये जाते हैं ॥४८॥

प्रकाशतस्तत्सिद्धौ कर्मकर्तृविरोधः ॥ ४९ ॥

ब्रह्म प्रकाश स्वरूप है अतएव वह जो कुछ चाहे कर सकता है अर्थात् चाहे जीवरूप हो चाहे घटपटादि रूप हो इस प्रमाणसे यदि ब्रह्मको अद्वैत कह कर अद्वैतवादकी सिद्धि करो तो कर्ता और कर्मका विरोध होगा क्योंकि ऐसा कहीं नहीं दिखाई पड़ता कि कर्ताही कर्म होगया है जैसे घटका कर्ता कुलाल है और उसका कर्म घट है तो दोनोंको

पृथक् पदार्थ मानना पड़ेगा, किन्तु कुलाल ही घट है ऐसा नहीं कह सकते ॥ ४९ ॥

जडव्यावृत्तो जडं प्रकाशयति चिद्रूपः ॥५०॥

जीव जड़पदार्थों में मिलकर उन पदार्थों को प्रकाशित करता है अतएव वह प्रकाश स्वरूप है; क्योंकि यदि प्रकाश करनेकी शक्ति जीवमें न होती तो शरीरमें गमनादिक क्रिया न हो सकती ॥ ५० ॥

न श्रुतिविरोधो रागिणां वैराग्याय तत्सिद्धेः ॥५१॥

जो श्रुतियां केवल अद्वैतही को प्रतिपादन करती हैं उनसे और द्वैतमाननेवालोंसे कुछ भी विरोध नहीं होगा क्योंकि जो ईश्वरको छोड़कर जीव वा शरीरको ईश्वरमान बैठे हैं उनके समझानेके लिये वह श्रुतियां है अर्थात् ईश्वरको उन श्रुतियोंने अद्वैत, अद्वितीय, एक, आदि विशेषणोंसे इस कारण कहा है कि उसके समान और दूसरा कोई नहीं है अतएव द्वैतमानने से श्रुतियोंसे विरोध नहीं होता ॥ ५१ ॥

जगत्सत्यत्वमदुष्टकारणजन्यत्वाद्बाधकाभावात् ॥५२॥

*जगत् सच्चा है क्योंकि इसका कारण नित्य है और किसी कालमें भी इसका बाध (रोक) नहीं दिखाई पड़ता ॥ ५२ ॥

प्रकारान्तरासम्भवात् सदुत्पत्तिः ॥५३ ॥

अब सिवाय प्रकृतिके और कोई कारण इसका दिखाई

---

* इस सूत्रका जो अभिप्राय है वह प्रथम अध्यायमें कहाजा चुका है।

नहीं पड़ता तो यही कहना चाहिये कि इसकी उत्पत्ति असत् पदार्थसे नहीं है किन्तु सत्पदार्थसे है ॥ ५३॥

अहङ्कारः कर्ता न पुरुषः ॥ ५४ ॥

सङ्कल्प विकल्प आदिक कार्यों का कर्त्ता अहङ्कार अर्थात् अन्तःकरण है किन्तु जीव नहीं है क्योंकि जो विचार बुद्धिमें होता है उसके उपरान्त ही कार्य्य में प्रवृत्ति देखी जाती है और वह बुद्धि पुरुषके प्रतिबिम्ब होसे प्रकाशित है ॥ ५४ ॥

चिदवसाना भुक्तिस्तत्कर्मार्जितत्वात् ॥५५॥

जिनका अवसान (अन्त) जीवमें हो उसका नाम भोग है क्योंकि वह भोग जीवहीके कर्मों से होते हैं अतएव भोगोंका अवसान भी जीवमें मानना चाहिये ॥ ५५ ॥

चन्द्रादिलोकेऽप्यावृत्तिर्निमित्तसद्भावात् ॥५६॥

चन्द्रलोकके * जीवोंमें भी आवृत्ति देखी जाती हैं क्योंकि जिस निमित्तसे मुक्ति और बंध होते हैं वह वहांके जीवोंमें भी समानही देखे जाते हैं। इसका आशय यह है कि चन्द्रआदि लोकोंके रहनेवाले जीवभी एकबार मुक्त होकर फिर कभी बन्धनमें न पड़ते हैं यह नियमनहीं है किन्तु वहांके मुक्तजीवों की भी आवृत्ति होती है क्योंकि वह लोकभी भूलोकके ही समान हैं ॥ ५६ ॥

---

* चन्द्रलोक भी इसी लोकके समान लोक है और वहां भी इसी भांति वसति देखीजाती है जिसे कि हमारे पूर्व विद्वानोंने निश्चय कर लिया था और वर्त्तमानमें अंगरेजोंने माईक्रौस कोप Microce cope। नामक सूक्ष्म दर्शक यन्त्रोंसे यह निश्चय कर लिया है कि चन्द्रलोकमें जल मनुष्य आदि कितने ही पदार्थ हैं ?

लोकस्य नोपदेशात् सिद्धिः पूर्ववत् ॥५७॥

जैसे इस लोकके मनुष्योंको केवल श्रवण मात्रसे मुक्तिकी सिद्धि नहीं होती इसी प्रकार चन्द्रलोकके मनुष्योंको भी श्रवण मात्रसे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ५७ ॥

पारम्पर्येण तत्सिद्धौ विमुक्ति-श्रुतिः ॥५८॥

जो जन्मान्तरोंसे मुक्तिके लिये प्रयत्न करता चला आता है वह केवल श्रवणमात्र ही से मुक्त हो सकता है अतएव "श्रुत्वामुच्यते" सुननेसे मुक्त हो जाता है यह श्रुति भी सार्थक हो सकती है ॥५८॥

गतिश्रुतेश्च व्यापकत्वेऽप्युपाधियोगाद्भोगदेशकाल-लाभो व्योमवत् ॥५९॥

आत्मामें जो गति (गमन) सुना जाता है वह इस प्रकार समझना चाहिये कि यद्यपि आत्मा शरीरमें व्यापक है तौभी उस शरीररूपी उपाधिके योगसे अनेक प्रकारके भोग, देश, और समयोंका योग उसमें माना जाता है। अर्थात् भोगोंकी प्राप्ति, देशान्तर गमन और प्रातःसन्ध्या आदिका अतिक्रम आत्माहीमें प्रतीत होता है किन्तु वास्तवमें आत्मा इनसे पृथक् है जैसे घटका आकाश घड़ेको उठा लेजानेसे वहीं आकाश भी चला जाता है ॥ प्रथम कह चुके हैं कि बिना जीवके केवल वायुहीसे शरीरका कार्य नहीं चल सकता उस पर अपना सिद्धान्त कहते हैं ॥५९॥

अनधिष्ठितस्य पूतिभावप्रसङ्गान्न तत्सिद्धिः ॥६०॥

"यदि आत्मा इस शरीरका अधिष्ठाता नहो तो शरीरमें

दुर्गन्धि आने लगे अतएव प्राणको शरीरका अधिष्ठाता नहीं कह सकते ॥ ६० ॥

अदृष्टद्वारा चेदसम्बद्धस्य तदसम्भवाज्जलादि-वदङ्कुरे ॥ ६१ ॥

यदि अदृष्ट (प्रारब्ध) से प्राणको शरीरका अधिष्ठाता कहें तो भी ठीक नहीं हो सकता क्योंकि प्राणका जब अदृष्टके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है तब उसे अधिष्ठाता कैसे कह सकते हैं ? जैसे अङ्कुर उत्पन्न होनेमें यद्यपि जल भी हेतु है परन्तु विना बीजके जलसे अङ्कुर उत्पन्न नहीं हो सकता इसी भांति यद्यपि शरीरकी अनेक क्रियाएं प्राणसे होती हैं परन्तु वह प्राण विना आत्माके कोई क्रिया नहीं कर सकता ॥६१॥

निर्गुणत्वात् तदसम्भवादहङ्कारधर्मा ह्येते ॥६२॥

* ईश्वर निर्गुण है अतएव उसीके बुद्धि आदिक होना असम्भव है इस लिये यह सब अहङ्कारके धर्म, बुद्धिआदि जीव ही को मानने चाहिये ॥६२॥

विशिष्टस्य जीवत्वमन्वयव्यतिरेकात् ॥६३॥

जो ईश्वरके गुणोंसे पृथक् शरीरादि युक्त है उसका नाम जीव है यह बात अन्वय व्यतिरेकसे जाननी चाहिये अर्थात् जीवके होनेसे शरीरमें बुद्धि आदिका प्रकाश और न होनेसे अप्रकाश दिखाई पड़ता है ॥६३॥

---

* अत्र जीवस्येति शेषः।

अहङ्कारकर्त्रधीना कार्यसिद्धिर्नेश्वराधीना प्रमाणाभावात् ॥ ६४ ॥

बुद्धिआदि कार्योंकारनेवाला अहङ्कार ही है किन्तु बुद्धिको ईश्वर नहीं बनाता क्योंकि बुद्धि आदि अनित्य हैं और ईश्वर नित्य है अतएव उसके कार्यभी नित्य होने चाहिये ॥६४॥

अदृष्टोद्भूतिवत् समानत्वम् ॥ ६५ ॥

जिस पदार्थका कर्त्ता प्रत्यक्ष दिखाई नहीं पड़ता उसका अनुमान कर लिया जाता हैं जैसे कि "घटका कर्त्ता कुलाल यद्यपि प्रत्यक्ष नहीं देखते तोभी उसका अनुमानसे निश्चय किया जाता है" इस भांति पृथिवी और अङ्कुरादिकोंका कर्त्ताभी किसी न किसीको अवश्य मानना चाहिये ॥६५॥

महतोऽन्यत् ॥ ६६ ॥

इस भांति इन्द्रियोंकी तन्मात्राओंका कर्त्ता भी महतत्वके अतिरिक्त किसीको मानना चाहिये ; वह कर्त्ता अहङ्कार ही है ॥६६॥

कर्म-निमित्तः प्रकृतेः स्वस्वामिभावोऽप्यनादि-बीजांकुरवत् ॥ ६७ ॥

पुरुषके कर्मोंकी वासनासे प्रकृति और पुरुषका स्व-स्वामि भाव सम्बन्ध भी अनादि ही मानना चाहिये। जैसे कि बीज और अङ्कुरके सम्बन्धको अनादि मानते हैं ॥६७॥

अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः ॥६८॥

पञ्चशिख आचार्य कहते हैं कि प्रकृति और पुरुषका स्व-स्वामि भाव सम्बन्ध कर्मकी वासनाओंसे नहीं है किन्तु अवि-वेकसे है ॥६८॥

लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्य्यः ॥६९॥

लिङ्ग शरीरके कारण प्रकृति और पुरुषका स्व-स्वामि भाव सम्बन्ध है ऐसा सनन्दनाचार्य मानते हैं ॥ ६९ ॥

यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः ॥ ७० ॥

प्रकृति और पुरुषका चाहे जो सम्बन्ध क्यों न हो किन्तु किसी न किसी प्रकारसे उस सम्बन्धका नाश कर देनेका ही नाम मोक्ष है यही सांख्याचार्य्यका मत है यह वीप्सामें पुनरुक्ति है ॥ ७० ॥

इति षष्ठाध्यायः समाप्तो ग्रन्थश्च ।

